: पखुरियाँ

राजकमल प्रकाशन

नयी दिल्ली पटना

उषा, प्रभा, हर्ष तथा
अशोक के लिए

क्रम

पटरियाँ ९

अमृतसर आ गया है··· २१

ललक ३६

नया मकान ४६

तस्वीर ५७

मीशामस्म ६८

ज़ख्म ८०

पैरों का निशान ९१

मर्दा तो मैं जवान हूँ ९८

गमला ११४

इन्द्रजाल १३२

डोरे १४९

ढोलक

भगोड़ा

पटरियाँ

कटरा राघोमल में से निकलकर वह बस-स्टाप की ओर बढ़े जा रहा था, जब उसकी नज़र चौक के पास खड़े दो आदमियों पर पड़ी। उनमे से एक का चेहरा उसे परिचित-सा लगा। उसे याद नहीं आया कि उसआदमी को कहाँ देखा है लेकिन स्वभावानुसार वह अन्दर-ही-अन्दर कुछ सिकुड़ा और वहाँ से दुबककर निकल जाने के लिए उसने आँखें नीची कर ली और सड़क के किनारे-किनारे चलने लगा।

"भाई साहब, हे केशोरामजी ! पहचाना नही क्या ?" आवाज आयी।

वह खिसिया गया और बगलें झाँकता-सा उनकी ओर गया। जिस ढंग से उस आदमी ने इसे बुलाया था, केशोराम को पहले ही उसमें अवज्ञा की झलक मिल गयी। इस आवाज़ मे न आग्रह था, न आदर। केशोराम को अपनी खाकी पतलून का और नीचे पहने मैले-सफेद जूतों का भास हुआ।

"कहिए, कहाँ चले जा रहे हैं इस वक्त ? मुझे पहचाना या नही ?"

उसने क्षीण-सी मुस्कान से फिर उस आदमी के चेहरे की ओर देखा। वह अभी भी उसे पहचान नही पाया था।

"इनको जानते हो ना।" उस आदमी ने अपने साथी से केशोराम का परिचय कराते हुए कहा, "चोपडा साहिब के दामाद है।"

तीसरे आदमी ने औपचारिकता से हाथ आगे बढ़ा दिया।

"चोपडा साहिब को जानते हो ना। वह मेरे बड़े मेहरबान रह चुके हैं, अम्बाला में हमारे सुपरिण्टेण्डेण्ट हुआ करते थे।"

पर उस आदमी को कोई दिलचस्पी नहीं थी, न चोपड़ा साहिब में न किसी खाकी पतलूनवाले उनके दामाद में। उसने हाथ मिलाने के बाद आँखें

फेर ली। केशोराम को लगा, जैसे चिथड़े की तरह उसने उसे सड़क के किनारे फेंक दिया है।

"चोपड़ा साहिब, आजकल कहाँ पर है?"

"यहीं पर हैं," केशोराम ने विनम्र धीमी आवाज में कहा।

"अच्छा! यहीं पर हैं।" केशोराम को लगा, जैसे चोपड़ा साहिब के यहाँ होने से उसका महत्त्व कुछ बढ गया है।

"मैं जरूर दर्शन करने आऊँगा। आजकल किस पोस्ट पर है?"

"सर्विस से तो रिटायर हो चुके हैं, लाजपतनगर में रहते हैं।"

उस व्यक्ति की आँखो मे हल्की-सी आग्रह की झलक जो क्षण-भर पहले मिली थी, 'रिटायर' शब्द सुनकर बुझ गयी। केशोराम ने झट से जोडा, "लाजपतनगर मे रहते है, वहीं पर अपना बँगला बना लिया है।"

परिचित की आँखो मे आग्रह की झलक लौट आयी। लाजपतनगर मे बड़े आदमी बँगला बनाते हैं, और जिस आदमी ने लाजपतनगर मे अपना घर बना लिया है, वह अभी भी अच्छी पोजीशन पर होगा। केशोराम को लगा, जैसे परिचित की नजरो मे उसकी स्थिति बेहतर बनने लगी है। प्रतिष्ठा का पारा धीरे-धीरे ऊपर को उठने लगा। ससुर के बड़प्पन की लौ लाजपतनगर से चलकर यहाँ कटरा राघोमल मे उस पर पडने लगी है।

"मैं जरूर मिलने आऊँगा," और उसने जेब मे से हरे रंग की सुनहरे क्लिप-वाली नोट-बुक मे चोपड़ा साहिब का पता और टेलीफोन नम्बर लिख लिये।

"और सुनाइए, आपका क्या हाल-चाल है? क्या शगल है आजकल?"

केशोराम का दिल बैठ गया। इसी प्रश्न से बचने के लिए वह कन्नी काट रहा था। इस प्रश्न से वह परिचित था। इसका उत्तर देने के बाद पूछनेवाले के चेहरे पर बदलते भाव से भी वह परिचित था। दिन मे बीसियों बार लोगों की आँखो में दिलचस्पी की हल्की-सी चमक को जगते-बुझते देखा करता था।

"वही इम्पोर्ट-एक्सपोर्ट का काम करता हूँ।" उसने बैठती-सी आवाज में उत्तर दिया।

वही प्रतिक्रिया हुई, जिसका उसे डर था। उस व्यक्ति की आँखो में आग्रह की चमक बिलकुल बुझ गयी। भावशून्य आँखों से उसके चेहरे की ओर देखता हुआ, बडप्पन के अन्दाज मे बोला, "अच्छा, अभी तक वही

टिके हो ?"

केशोराम पर घड़ों पानी पड़ गया। और केशोराम को लगा, जैसे उस आदमी की नजर नीचे की ओर केशोराम के कपड़ो पर से होती हुई उसके जूतों तक जा पहुँची है।

अपने व्यवसाय के बारे में केशोराम जान-बूझकर 'इम्पोर्ट-एक्सपोर्ट' शब्द का प्रयोग करता था। 'इम्पोर्ट-एक्सपोर्ट' एक व्यापक शब्द है, जिसमें लखपति भी आ जाते हैं और अठन्नी सैकडा कमानेवाले दलाल भी, और इण्डेण्ट का व्यापार करनेवाले उस-जैसे कमीशन एजेण्ट भी। यह वैसा ही था, जैसे प्राइमरी स्कूल का अध्यापक भी कहे कि वह शिक्षा-विभाग मे काम करता है, और विश्वविद्यालय का वाइस-चासलर भी कहे कि वह शिक्षा-विभाग में काम करता है। पर केशोराम को लगा, जैसे वह आदमी स्थिति को भांप गया है। उसकी पोजीशन को समझ गया है।

"चलिए, घर का काम है, क्या बुरा है।" उसने कहा, और फिर पहले-जैसी सरपरस्ती के अन्दाज में, जेब में से गोल्ड-फ्लेक की डिबिया निकालकर केशोराम को सिगरेट पेश की। केशोराम को लगा, जैसे उसे तिरस्कृत करने के लिए, अपने और उसके बीच का अन्तर दिखाने के लिए ही सिगरेट पेश की जा रही है।

"जी नही, आप पीजिए।"

उसे लगा, इण्टर्व्यू समाप्त हो चुका है और उसे विदा हो जाना चाहिए।

सडक के किनारे-किनारे चलते हुए केशोराम को लगा, जैसे वह पैर घसीट-घसीटकर चल रहा है। उसे अपनी स्थिति के बारे में सोचकर वितृष्णा हुई। पहले भी मैं पैर घसीटता था, आज भी घसीटता हूँ। वर्षों से पैर घसीटता चला आ रहा हूँ। जिन्दगी में कुछ बना-बनाया नही है। सारी जिन्दगी मिट्टी हो गयी है···

दिन में चौबीस घण्टे उसे अपनी वास्तविक स्थिति का बोध रहता था। मानो उसकी कोई तीसरी आँख हर वक्त खुली रहती हो और सारा वक्त उसकी वास्तविक स्थिति को आँकती रहती हो। 'अभी तक वही पडे हो ?' केशोराम ने उस आदमी का वाक्य मन ही मन दोहराया और खिन्न हो उठा। मेरी जगह कोई दूसरा आदमी होता तो यह आदमी इस तरह से बात नही करता। क्या चोपड़ा साहिब से भी इसी तरह मिलता, जिस तरह

मुझे मिला है? उन्हें तो झुक-झुककर सलाम करता। वह जानता था कि लोगों के व्यवहार में उसके प्रति बेरुखी पायी जाती है। यहां तक कि अपने सगे-सम्बन्धियों के व्यवहार में भी। पिछली बार जब वह अपने ससुर चोपड़ा साहिब से मि .ने गया तो बातें करते हुए चोपड़ा साहिब ने अपना पैर उठाकर उसकी कुर्सी पर रख दिया था, उसे जताने के लिए कि वह उसकी हैसियत को समझते है। क्या वह इस तरह की बात अपने बड़े दामाद के साथ भी करेंगे? क्या उसकी कुर्सी पर भी अपना पैर रख देंगे? उनका बड़ा दामाद सरकारी अफसर है, एक हजार रुपया महीना पाता है। उसके लिए तो चोपड़ा साहिब केक मँगवाते हैं, उसके साथ हँस-हँसकर बातें करते है। केशोराम जाय, तो उसे लेक्चर देते हैं।

बस-स्टाप पर फिर उसे एक परिचित चेहरा नजर आया और केशोराम को लगा, जैसे उसने केशोराम को पहचानकर मुँह फेर लिया है। क्या मैं अफसर होता तो यह इस तरह मुँह फेर लेता?

बस के डण्डे के साथ झूलते हुए केशोराम को अपनी पत्नी की याद आयी। उसकी आंखों मे भी उपेक्षा उतर आयी थी। अब उसकी पत्नी को उसकी हर आदत अखरने लगी थी। वह खाना खाते समय सालन ज्यादा खा जाता था। किसी जमाने मे उसकी पत्नी हँसकर उसकी कटोरी में और सालन डाल दिया करती थी। तब उसकी पत्नी की आंखों में उसके भविष्य के बारे मे हल्की-सी आशा की चमक रहा करती थी, मानो उसे उम्मीद हो कि एक-न-एक दिन उसकी स्थिति मे परिवर्तन आयेगा। फिर एक दिन सहसा उसने उस चमक को बुझते देखा था। उसे वह क्षण याद था, जब वह चमक बुझ गयी थी और उसकी पत्नी ने उसकी ओर से मुँह फेर लिया था। उस रोज वह सुबह के वक्त चौके मे पत्नी के साथ बैठा चाय पी रहा था। तब वे शहर की एक सँकरी गली मे दो कमरों का घर लेकर रहने लगे थे, उसकी पत्नी आँगन के ही एक कोने मे रसोई किया करती थी। आँगन की छत मे लोहे की सलाखो की झरझरी लगी थी, जिसमे से रोशनी छन-छनकर नीचे आया करती थी। सुबह नाश्ते के वक्त जरूर झरझरी मे से पानी गिरता था, ऊपर रहनेवाले किरायेदार की पत्नी अपना आँगन धोती थी और किरायेदार उसके किसी सेठ का दूर का सम्बन्धी था। जब पानी गिरता, तो वह उठकर ड्योढ़ी की दहलीज पर बैठ जाया करता था। पर

उस रोज गन्दे पानी के छीटे उसके सिर पर गिरे थे। तब भी वह चुपचाप उठकर दहलीज पर चला गया था। इस पर उसकी पत्नी बडबडायी थी। उसने अपनी पत्नी को डाँट दिया था, "तुम चाहती हो कि इस छोटी-सी बात के लिए मैं सेठ के नाती से दुश्मनी मोल ले लूं? तुम अपना चूल्हा पीछे सरका लो।" तभी उसकी पत्नी ठिठककर उसकी ओर देखने लगी थी, और तभी उसकी आँखों मे आशा की चमक बुझ गयी और उसने उपेक्षा मे मुँह फेर लिया था।···

"आगे बढते जाओ जी, आगे बढ़ते जाओ। बाबूजी, खाकी पतलूनवाले, आगे बढते जाओ।···"

कण्डक्टर की आवाज़ थी। डण्डे को पकड़े-पकड़े वह थोडा आगे की ओर सरक गया। क्या चोपडा साहिब भी इस तरह बसों मे धक्के खाते है! क्या उनके बड़े दामाद को भी बस मे चढ पाने के लिए तीन-तीन बसों के पीछे भागना पड़ता है! इस वक्त वह मजे से मोटर में बैठा अपने दफ़्तर में जा रहा होगा। सब दोष मेरी मिट्टी का है, और किसी का नही। कोई क्या कह सकता है। अगर एम० ए० पास करने के बाद मैं अपना शहर छोड़ देता, तो इस वक्त तक जरूर कही-न-कही पहुँच चुका होता। उसे अपने बाप पर गुस्सा आया, जिसने अपने सफ़ेद बालों का वास्ता डालकर उसे घर पर रोके रखा था। उसे लगा, जैसे इन्सान की जिन्दगी मे कभी-कभी एक क्षण आकाश से उतरता है, चमकता हुआ सौभाग्य-क्षण, उज्ज्वल, झिलमिलाता हुआ क्षण। आकाश से सारे वक्त ऐसे क्षण उतरते रहते है, जिस किसी पर पड जाते हैं, उसका जीवन खिल उठता है। ऐसा सौभाग्य का क्षण उस पर नहीं उतरा, और जो अब तक नही उतरा, वह आगे क्या उतरेगा।···सबसे बड़ी चीज़ दुनिया में पैसा है, पोज़ीशन है। बाकी सब ढकोसला है। सब बकवास है। ताकत और पैसा और रोब-दाब, इनसे बढकर कोई चीज दुनिया मे नही है। जिसके पास पैसा है, उसके पास सब-कुछ है। बाबू हरगोबिन्द ने मेरे साथ ही एजेन्टी का काम शुरू किया था। आज तीन मकानो का मालिक है। जब-जब जाता हूँ, अपने मकान के चबूतरे पर टहल रहा होता है और जेब में से बादाम की गिरियाँ निकाल-निकालकर खा रहा होता है।···इधर मेरा घर है कि मैं और मेरी पत्नी बात-बात पर एक-दूसरे पर चिल्लाने लगते हैं। मुझे गुस्सा आता है तो मैं हाँफने लगता हूँ।

एक कमरे से दूसरे कमरे मे जाता हूँ। हाथ पसारता हूँ। फिर हाँफने लगता हूँ। पत्नी भी हाथ पसारकर कहती है, "और चिल्लाओ, चिल्लाते जाओ! बुजदिल कहीं का! मरदूद! कर-कुरा कुछ सकता नहीं, केवल चिल्ला सकता है।" और मेरी नाकामयाबियों को एक-एक कर मेरे मुंह पर मारने लगती है।

"आगे सरकते जाओ साहिब, आगे सरकते जाओ। बाबू, खाकी पतलून-वाले, आगे बढ़ते जाओ।"

पूरे ग्यारह बजते-बजते वह कारखाने में दाखिल हुआ। कारखाना शहर से पाँच मील की दूरी पर था। यहाँ वह पिछले तीन रोज़ से किरमिच का पचास गाँठ का आर्डर मंज़ूर करवाने आ रहा था, पर अभी तक बड़े सेठ से मुलाकात नही हो पायी थी।

"जय सीताराम जी!" उसने क्लर्कों के कमरे मे कदम रखते हुए प्रेम बाबू से कहा। प्रेम बाबू अपनी फाइल पर झुका रहा। केशोराम जानता था कि वह अभिवादन का उत्तर नही देगा। थोक बाज़ार मे बैठनेवाले दूकान-दार भी उसके अभिवादन का उत्तर नही देते थे। 'जय सीताराम जी! जय सीताराम जी! जय सीताराम जी!' कहता हुआ, वह दूकानों के बीचो-बीच सडक पर रोज गुजर जाया करता था। पतला, छरहरे बदन का प्रेम बाबू माशूको की तरह दफ्तर मे काम करता था। अन्दर से बड़े सेठ केवल उसी को पुकारते थे, और वह मटक-मटककर टहलता हुआ फाइल उठाकर अन्दर जाता था। काम में तेज था, सभी चिट्ठियो के बीचे एक ओर उसी के हस्ताक्षर की चिड़ी बनी रहती थी। बड़े सेठ के दफ्तर मे से जब किसी को डांटने की आवाज़ आती, या फर्श पर फ़ाइल पटकने की, तो क्लर्कों की कलमे लरज जाती थीं। क्लर्कों के हॉल-कमरे में त्रास छा जाता था, मगर प्रेम बाबू निश्चिन्त बैठा रहता था।

"आज हमारी मुलाकात करवा दो, प्रेम बाबू, तीन दिन से यहाँ बैठा हूँ।"

वह स्वयं कुर्सी खींचकर प्रेम बाबू की मेज के सामने बैठ गया और बैग खोलकर उसमे से अपनी इण्डैण्ट-बुक निकालकर सामने रख ली।

तभी साहिब के दफ्तर मे अन्दर से ज़मीन पर रजिस्टर पटकने की आवाज आयी और उसके बाद फटकारने-डाँटने की। एक लरजिश की लहर सारे कमरे में दौड़ गयी। क्लर्कों ने कनखियो से एक-दूसरे की ओर देखा।

उसकी नजर साहिब के दफ्तर के दरवाजे पर पड़ी। दरवाजे पर लगा पीतल का हैण्डिल ज्यों-का-त्यों निस्पन्द अपनी जगह पर स्थिर था। उसकी बगल मे दीवार पर लगी घड़ी भी खामोश-सी खड़ी थी।

साढे ग्यारह बजते-बजते बम्बई का एजेण्ट आया। केशोराम उसे वर्षों से जानता था। वह जानता था कि उसे बैठाने के लिए प्रेम बाबू उठ खड़ा होगा। बम्बई का सेठ कद मे लम्बा था। हाथी की तरह धीमे-धीमे चलता था, धीमे-धीमे बोलता था, केशोराम उसे वर्षों से जानता था। सेठ के ऊँचे कद, बन्द गले के लम्बे सफेद कोट और कामदार टोपी में ही बड़प्पन था। अगर केशोराम लम्बे कद का होता, तो उसकी चाल-ढाल मे भी रोब आ गया होता।

केशोराम स्वयं अपनी कुर्सी छोड़कर एक ओर को हटकर खड़ा हो गया।

"कहो प्रेम बाबू, अच्छे हो!" कहते हुए बम्बई का सेठ कुर्सी पर बैठ गया। केशोराम को लगा, जैसे उसे फिर चिथड़े की तरह एक ओर को फेंक दिया गया है। तभी सेठ ने गर्दन घुमाकर उसकी ओर देखा और मुस्कुराकर बोला, "मैंने आपकी कुर्सी छीन ली।"

"नही, नही। इसमे क्या है।" केशोराम ने सिर हिलाते हुए कहा। तभी केशोराम के बदन मे गरमाइश आ गयी। पुलकन भी हुई। भावोद्रेक भी हुआ। केशोराम जितनी जल्दी तिरस्कार को महसूस करता था, उतनी ही जल्दी उसे क्षमा भी कर देता था। बल्कि भावुक हो उठता था।

लेकिन बारह बजते-बजते केशोराम के कान खड़े हो गये। वातावरण में एक प्रकार का तनाव आ गया। एक धूमिल-सा संशय उसके मन में जागा कि उसका अपमान होने जा रहा है। उसे अक्सर इस बात का पहले से भास हो जाता था।

हुआ कुछ नही था। केवल पीछे के दरवाजे में कारखाने के भोजनालय का रसोइया प्रगट हुआ था और धीरे-धीरे उनकी ओर चला आ रहा था। कारखानेवालों ने यहां पर एक भोजनालय खोल रखा था। साफ-सुथरा भोजनालय। नहा-धोकर, नंगे बदन रसोई पकानेवाला महाराज, जो हाथ जोड़कर बात करता था और जिसके जिस्म पर यज्ञोपवीत लटकता रहता था। यहां बाहर से आनेवाले लोगों को खाना खिलाया जाता था।

महाराज बढ़ता आ रहा था और केशोराम के मन का संशय धक्-धक् का रूप लेने लगा था।

"जीम लीजिए, भोजन तैयार है।" उसने पास आकर कहा। केशोराम उसे पहले से देख रहा था। बम्बई के सेठ की नजर उसकी ओर बाद में उठी।

"जीम लीजिए, भोजन तैयार है!"

केशोराम को लगा, जैसे महाराज उतनी ही विनम्रता से उसे भी निमन्त्रण दे रहा है, जितनी विनम्रता से बम्बई के सेठ को। महाराज के नम्र निवेदन को सुनकर केशोराम को भूख लग आयी। उसने आँखें मिचकाकर फिर एक बार महाराज की ओर देखा। हाथ जुड़े थे, अधमुँदी आँखें विनम्र निमन्त्रण में बिछी-बिछी जा रही थीं। बस, जब बम्बई का सेठ उठा, तो केशोराम भी उठ खड़ा हुआ। और जब बम्बई के सेठ ने प्रेम बाबू से चलते-चलते कहा, "अच्छा प्रेम बाबू, हम इतने में जीम आवें।" तो केशोराम ने भी मुड़कर प्रेम बाबू की ओर उसी ढंग से देखा, और बम्बई के सेठ के पीछे-पीछे भोजनालय की राह ली। हैसियत का स्तर ऊँचा हो जाये, तो दिल में गुदगुदी होती है। पुलकन की हल्की-हल्की लहरियाँ उठने लगती हैं।

पर पांच ही मिनट के बाद केशोराम लौट आया। पानी-पानी, पसीना-पसीना, हीन भाव की सबसे निचली सीढ़ी तक लुढ़ककर पहुँचा हुआ। आते ही कुर्सी पर बैठ गया और गठरी की तरह पड़ रहा, कपड़ों के ढेर की तरह।

महाराज ने न जाने किस जन्म का बदला लिया था। ऐन भोजनालय के बाहर पहुँचकर घूम गया था। बम्बई वाले सेठ को तो मेज-कुर्सी वाले कमरे के अन्दर पधारने को कहा और केशोराम को बरामदे की ओर इशारा करते हुए बोला, "बाबूजी, आप इधर विराजिए। आपके लिए इधर पत्तल लगवा दूँगा।"

कारखाने के रसोइये की आँखें भी तोलना जानती हैं। लीक खींचना जानती हैं। तोलकर फेंकना जानती हैं। कारखाने के सभी लोग, रसोइया भी और क्लर्क भी और चपरासी-चौकीदार भी, बाहर से आनेवाले लोगों को बड़े साहिब की आँख से देखते हैं। जिनसे बड़े साहिब हँसकर मिलें, उनसे वे हँसकर मिलते हैं। जिनसे साहिब हाथ मिलाते हैं, उन्हें वे सलाम करते हैं। सभी में साहिब की आत्मा बसती है।

वह उसी क्षण भोजनालय से लौट आया था और रास्ते में वह एक बार ठिठक गया था। उसके मन में आया, इण्डेण्ट-बुक फेंक दे और घर लौट

जाये। उसे लगा, जैसे रसोइये ने उस पर पेशाब कर दिया है।

पर ठिठकना लौट जाना नहीं होता। हम समझते हैं ठिठकनेवाले क्षण जीवन के निर्णायक क्षण होते हैं, गाड़ी का काँटा बदलनेवाले क्षण। पर ऐसा कुछ नहीं है। यों तो कोल्हू का बैल भी चलते-चलते ठिठक जाता है, रुक भी जाता है, पर मुड़कर कभी नहीं चलता। केशोराम भी दफ़्तर में लौट आया था और कुर्सी पर ढेर हो गया था।

सब दोष इस खाकी पतलून का था। सब दोष एम० ए० की डिग्री का था। वरना दलाल दुनीचन्द क्यों पानी-पानी नहीं होता। काली टोपी पहने और छोटी-सी बही बगल में दबाये दुनीचन्द झट से सेठ की दहलीज़ पर जा बैठता है। सेठ की रुसाई उसे नहीं चुभती। कोई बहुत रूखा बोले, तो दुनीचन्द जेब में से तम्बाकू की डिबिया और चूना निकालकर, तम्बाकू की चुटकी फाँक लेता है। तम्बाकू की चुटकी में सब तिरस्कारों का डंक टूट जाता है। वह कटरा राधोमल में से निकलने के ख्वाब नहीं देखता।

दोपहर हो चुकी होगी। बड़े साहब से मिलने के अभी तक कोई आसार नज़र नहीं आ रहे थे। बम्बई का सेठ जीमकर लौटने के बाद सीधा साहिब के दफ़्तर में चला गया था और अपना आर्डर मंजूर करवाकर, उधर से ही बाहर चला गया था। तभी केशोराम बैठा-बैठा स्वप्न देखने लगा। सभी एजेण्ट दिवा-स्वप्न देखते हैं। सभी वे लोग, जो अपनी पटरी से उतरे होते हैं। जिनकी एक टाँग कटरा राधोमल में, तो दूसरी लाजपतनगर में होती है...

उसने देखा कि वह रेलगाड़ी में बैठा है, उसके पास टिकट भी है, पर कारखाने का बड़ा सेठ उसकी सीट पर अपना बिस्तर बिछाना चाहता है और उसे डिब्बे में से निकल जाने को कह रहा है। वह केशोराम को नहीं पहचानता मगर केशोराम ने उसे पहचान लिया है। केशोराम उसे अपना हरे रंग का टिकट दिखाता है और पीले रंग का रिज़र्वेशन टिकट, जिस पर लाल रंग की रेखा खिंची है। सेठ की ठुड्डी पहले से ज़्यादा चौड़ी हो गयी है और उसके गाल लटक आये हैं। सेठ हाथ चमकाकर उसे निकल जाने को कहता है, मगर केशोराम टेढ़ा होकर खड़ा हो जाता है और बर्थ के डण्डे को पकड़ लेता है। प्रेम बाबू पहुँच जाता है और भोजनालय का महाराज भी, और दोनों उसे धक्के दे-देकर निकालने की कोशिश करते हैं। वह डण्डे से

ग्रौर ज्यादा चिपक जाता है। महाराज डण्डे पर से उसकी उँगलियाँ खीच-खीचकर उतारता है, पर केशोराम डण्डे को फिर से पकड़ लेता है। सभी उसे बराबर धक्के दिये जा रहे हैं ग्रौर तभी गाडी चलने लगी है, उसके पहियों की घर्र-घर्र की ग्रावाज ग्राने लगती है···

बिल्कुल दलालोंवाला सपना था, जिसमें दलाल के साहस को पराकाष्ठा तक दिखाया गया है। एक धक्के के साथ केशोराम होश में ग्रा गया। उसके शरीर को हल्का-सा हिचकोला भी लगा, मानो चलती गाडी का ही धक्का हो। बाकी का दृश्य तो ग्रांखों से ग्रोझल हो गया, लेकिन घर्र-घर्र की ग्रावाज ग्रभी भी ग्रा रही थी। उसने प्रेम बाबू की ग्रोर देखा। प्रेम बाबू मुस्कराये जा रहा था।

"क्या बात है प्रेम बाबू ?" केशोराम ने तुनककर पूछा। केशोराम का शरीर गाडी में पड़े धक्कों से ग्रभी भी धुना-धुना महसूस कर रहा था।

"सुनते नही हो ? साहिब की मोटर जा रही है।"

केशोराम को एक ग्रौर हिचकोला लगा। सचमुच मोटर के इंजन की ग्रावाज थी। केशोराम सहसा उठ खड़ा हुग्रा, इण्डेण्ट-बुक उसके हाथ में थी, ग्रौर वह एक छलांग मे जैसे दस फुट का फासला तय करके साहिब के दफ्तर के बाहर जा पहुँचा। दरवाज़े पर पहुँचकर वह क्षण-भर के लिए ठिठका। उसे लगा, जैसे कोई ग्रांधी उसे बहाकर ले ग्रायी है; दरवाज़े पर लगे पीतल के हैण्डिल पर उसकी नजर ग्रटक गयी। उसका हाथ हैण्डिल तक उठने के लिए इन्कार कर रहा था। उसने घूमकर क्लर्कों की ग्रोर देखा। प्रेम बाबू ही नही, पीलिया का मारा राधेमोहन भी फटी-फटी ग्रांखों से उसकी ग्रोर देखे जा रहे थे।

तभी दु साहस की स्थिति मे, न जाने कैसे, उसने साहिब के कमरे का दरवाजा खोल दिया ग्रौर ग्रन्दर जा पहुँचा। सीधा शेर की मांद में पाँव रख दिया। बड़े-से दफ़्तर के बीचोबीच साहिब खड़ा था। लगभग वैसा ही, जैसा गाडी के डिब्बे मे नजर ग्राया था, गाल लटके हुए, सफेद घुटा-घुटा सिर। दफ़्तर के बीचोबीच खडा ग्रपना कोट पहन रहा था। दफ़्तर में वह कोट उतारे रहता था ताकि फाइल पटकने मे ग्रासानी रहे। साहिब कमरे के बीचोबीच खड़े थे ग्रौर बाहर मोटर का इजन ग्रभी भी चल रहा था, घर्र-घर्र, घर्र-घर्र। साहिब मेज पर से कुछ उठाने ग्राये थे। केशोराम को लगा, साहिब का कमरा कांच का बना है, बिल्लौर चमकते कांच का जो जगह-

जगह से चमकता है। साहिब ने उसकी ओर घूमकर देखा, तो उसे लगा, जैसे साहिब की दोनों आँखें भी बिल्लौरी काँच की तरह चमक उठी है, उनसे नश्तर-जैसी तेज़ किरण फूटी है। वह दरवाज़े के ऐन अन्दर खड़ा था, जैसे काँच के कमरे में पहुँचकर वह भी काँच का बुत बन गया हो। साहिब जेबों में कुछ ठूँस रहे थे, अपना चश्मा, अपना रुमाल, अपनी डायरी, अपनी चाबियाँ।

"क्या है!" साहिब ने घूमकर कहा और मुस्करा दिये।

साहिब के मुस्कराने की देर थी कि कमरे का रूप बदल गया। वह काँच का कमरा न रहकर एक सुन्दर, सजा-धजा कमरा नजर आने लगा, जिसके फर्श पर लाल रंग का कालीन बिछा था और उस पर साहिब के काले रंग के जूते चमक रहे थे।

"लाओ, लाओ" साहिब ने केशोराम के हाथ में इण्डेण्ट-बुक को देख लिया था, "इतनी देर क्या कर रहे थे?"

साहिब ने उसके हाथ से इण्डेण्ट-बुक लेकर उड़ती नजर से उस पर लिखा आर्डर पढ़ा। फिर मेज़ पर से लाल पैंसिल उठाकर 'चिड़ी' डाल दी और इण्डेण्ट-बुक केशोराम को लौटाते हुए, फिर से मुस्करा दिये।

कमरे में स्निग्धता छा गयी, स्नेह और स्निग्धता और वात्सल्य।

"तुम्हारा नाम केशोराम है न?"

"जी, केशोराम, एम० ए०।"

साहिब हँस दिये और चाबियाँ खनकाते बाहर निकल गये।

घर लौटते हुए, बस के डण्डे के साथ झूलते हुए केशोराम को दूसरा ही अनुभव हुआ। उसे लगा, जैसे पैरों की ओर से एक हल्की-सी लहर ऊपर को उठी है। इसके बाद एक और लहर उठी है, फिर एक और। लहरें ऊपर को उठती जाती है और उसके शरीर में छलछलाती जाती है, नीचे से ऊपर, जैसे फव्वारे का पानी उछलता है। उछल-उछलकर खून का स्तर ऊँचा होता चला जा रहा है। उठती लहरें अब उसके मस्तिष्क तक को छूने लगी थी। उसके शरीर में झनझनी-सी होने लगी, बीसियो साज एक साथ बजने लगे थे। हर बार, लहरें उठने के बाद तृप्ति का-सा भाव छा जाता। फिर सारे बदन में हिलोर-सी उठती और लहरें बार-बार उठने लगतीं। लगता था, उछलता खून अपने-आप जख्मों पर मरहम का काम कर रहा

है, शरीर में गरमाहट आ रही है। दायें हाथ से बस के डण्डे को पकड़, बायें हाथ की उँगलियों के पपोटों पर केशोराम हिसाब लगा रहा था। आठ आने सैंकड़ा के हिसाब से किरमिच की पचास गाँठों पर उसकी दलाली पूरे तीन सौ पचहत्तर रुपये बनेगी। लहरों पर ३ और ७ और ५ के अंक इठलाने लगे थे, डोलने लगे थे और उनके बीचोबीच कभी-कभी बड़े साहिब का मुस्कराता चेहरा प्रगट हो जाता, तुम केशोराम हो ना ?···और शरीर में खून ठाठें मारने लगता। उसे लगा, जैसे टूटे सपनों के टुकड़े, जो इधर-उधर बिखर गये थे, फिर से जुड़ने लगे हैं और कटरा राधोमल पीछे छूटता जा रहा है और बस लाजपतनगर की ओर बढ़े जा रही है, बढ़े जा रही है !

●

अमृतसर आ गया है...

गाड़ी के डब्बे मे बहुत मुसाफिर नही थे। मेरे सामनेवाली सीट पर बैठे सरदारजी देर से मुझे लाम के किस्से सुनाते रहे थे। वह लाम के दिनों में बर्मा की लड़ाई में भाग ले चुके थे और बात-बात पर खी-खी करके हँसते और गोरे फौजियों की खिल्ली उडाते रहे थे। डब्बे में तीन पठान व्यापारी भी थे, उनमें से एक हरे रंग की पोशाक पहने ऊपरवाली बर्थ पर लेटा हुआ था। वह आदमी बड़ा हँसमुख था और बड़ी देर से मेरे साथवाली सीट पर बैठे एक दुबले-से बाबू के साथ उसका मज़ाक चल रहा था। वह दुबला बाबू पेशावर का रहनेवाला जान पडता था क्योंकि किसी-किसी वक्त वे आपस में पश्तो मे बातें करने लगते थे। मेरे सामने दायी ओर कोने में, एक बुढ़िया मुँह-सिर ढाँपे बैठी थी और देर से माला जप रही थी। यही कुछ लोग रहे होंगे। सम्भव है दो-एक और मुसाफिर भी रहे हों पर वे स्पष्टतः मुझे याद नहीं।

गाडी धीमी रफ्तार से चली जा रही थी, और गाड़ी मे बैठे मुसाफिर बतिया रहे थे और बाहर गेहूँ के खेतो में हल्की-हल्की लहरियाँ उठ रही थीं, और मै मन-ही-मन बड़ा खुश था क्योंकि मैं दिल्ली में होनेवाला स्वतन्त्रता-दिवस समारोह देखने जा रहा था।

उन दिनो के बारे मे सोचता हूँ, तो लगता है, हम किसी झुटपुटे में जी रहे थे। शायद समय बीत जाने पर अतीत का सारा व्यापार ही झुटपुटे में बीता जान पड़ता है। ज्यो-ज्यों भविष्य के पट खुलते जाते हैं, यह झुटपुटा और भी गहराता चला जाता है।

उन्हीं दिनों पाकिस्तान के बनाये जाने का ऐलान किया गया था

ग्रौर लोग तरह-तरह के ग्रनुमान लगाने लगे थे कि भविष्य में जीवन की रूपरेखा कैसी होगी। पर किसी की भी कल्पना बहुत दूर तक नही जा पाती थी। मेरे सामने बैठे सरदारजी बार-बार मुझसे पूछ रहे थे कि पाकिस्तान बन जाने पर जिन्ना साहिब बम्बई मे ही रहेंगे या पाकिस्तान मे जाकर बस जायेंगे, ग्रौर मेरा हर बार यही जवाब होता—बम्बई क्यों छोड़ेंगे, पाकिस्तान मे ग्राते-जाते रहेंगे, बम्बई छोड देने मे क्या तुक है। लाहौर ग्रौर गुरदासपुर के बारे में भी ग्रनुमान लगाये जा रहे थे कि कौन-सा शहर किस ग्रोर जायेगा। मिल बैठने के ढंग मे, गप-शप में, हँसी-मजाक म कोई विशेष ग्रन्तर नही ग्राया था। कुछ लोग ग्रपने घर छोड़कर जा रहे थे जबकि ग्रन्य लोग उनका मजाक उडा रहे थे। कोई नही जानता था कि कौन-सा कदम ठीक होगा ग्रौर कौन-सा गलत! एक ग्रोर पाकिस्तान बन जाने का जोश था तो दूसरी ग्रोर हिन्दुस्तान के ग्राजाद हो जाने का जोश। जगह-जगह दंगे भी हो रहे थे, ग्रौर योम-ए-ग्राजादी की तैयारियाँ भी चल रही थी। इस पृष्ठभूमि मे लगता, देश ग्राजाद हो जाने पर दंगे ग्रपने-ग्राप बन्द हो जायेंगे। वातावरण के इस झुटपुटे मे ग्राजादी की सुनहरी धूल-सी उड रही थी ग्रौर साथ-ही-साथ ग्रनिश्चय भी डोल रहा था, ग्रौर इसी ग्रनिश्चय की स्थिति मे किसी-किसी वक्त भावी रिश्तों की रूपरेखा झलक दे जाती थी।

शायद जेहलम का स्टेशन पीछे छूट चुका था जब ऊपरवाली बर्थ पर बैठे पठान ने एक पोटली खोल ली ग्रौर उसमें से उबला हुग्रा मास ग्रौर नान-रोटी के टुकडे निकाल-निकालकर ग्रपने साथियों को देने लगा। फिर वह हँसी-मजाक के बीच मेरी बगल मे बैठे बाबू की ग्रोर भी नान का टुकडा ग्रौर मास की बोटी बढ़ाकर खाने का ग्राग्रह करने लगा था—खा ले, बाबू, ताकत ग्रायेगी। हम जैसा हो जायेगा। बीवी भी तेरे साथ खुश रहेगी। खा ले दालखोर, तू दाल खाता है इसलिए दुबला है…

डब्बे मे लोग हँसने लगे थे। बाबू ने पश्तो में कुछ जवाब दिया ग्रौर फिर मुस्कराता सिर हिलाता रहा।

इस पर दूसरे पठान ने हँसकर कहा—ग्रो जालिम, ग्रमारे ग्राथ से नई लेता ए तो ग्रपने ग्राथ से उठा ले। खुदा कसम बर का गोश्त ए, ग्रौर किसी चीज का नई ए।

ऊपर बैठा पठान चहककर बोला—ग्रो खंजीर के तुख्म, इधर तुमें

कौन देखता ए ? हम तेरी वीवी को नईं बोलेगा। ओ तू अमारे साथ बोटी तोड़। हम तेरे साथ दाल पियेगा···

इस पर कहकहा उठा, पर दुबला-पतला बाबू हँसता, सिर हिलाता रहा और कभी-कभी दो शब्द पश्तो में भी कह देता।

—ओ कितना बुरा बात ए अम खाता ए, और तू अमारा मुंह देखता ए···सभी पठान मगन थे।

—यह इसलिए नही लेता कि तुमने हाथ नही धोये है, स्थूलकाय सरदार जी बोले और बोलते ही खी-खी करने लगे। अधलेटी मुद्रा में बैठे सरदारजी की आधी तोंद सीट के नीचे लटक रही थी—तुम अभी सोकर उठे हो और उठते ही पोटली खोलकर खाने लग गये हो, इसीलिए बाबूजी तुम्हारे हाथ से नही लेते, और कोई बात नही। और सरदार जी ने मेरी ओर देखकर आँख मारी और फिर खी-खी करने लगे।

—मास नईं खाता ए, बाबू तो आओ जनाना डब्बे मे बैठो, इधर क्या करता ए ? फिर कहकहा उठा।

डब्बे में और भी अनेक मुसाफिर थे लेकिन पुराने मुसाफिर यही थे जो सफर शुरू होने पर गाडी में बैठे थे। बाकी मुसाफिर उतरते-चढते रहे थे। पुराने मुसाफिर होने के नाते ही उनमें एक तरह की बेतकल्लुफी आ गयी थी।

—ओ इधर आकर बैठो। तुम अमारे साथ बैठो। आओ जालिम, किस्साखानी की बातें करेंगे।

तभी किसी स्टेशन पर गाड़ी रुकी थी और नये मुसाफिरो का रेला अन्दर आ गया था। बहुत-से मुसाफिर एक साथ अन्दर घुसते चले आये थे।

—कौन-सा स्टेशन है ? किसी ने पूछा।

—वजीराबाद है शायद, मैंने बाहर की ओर देखकर कहा।

गाड़ी वहाँ थोडी देर के लिए खड़ी रही। पर छूटने से पहले एक छोटी-सी घटना घटी। एक आदमी साथवाले डब्बे में से पानी लेने उतरा और नल पर जाकर पानी लोटे में भर रहा था जब वह भागकर अपने डब्बे की ओर लौट आया। छलछलाते लोटे में से पानी गिर रहा था। लेकिन जिस ढंग से वह भागा था उसी ने बहुत कुछ बता दिया था। नल पर खड़े और लोग भी, तीन या चार आदमी रहे होंगे—इधर-उधर

अपने-अपने डब्बे की ओर भाग गये थे। इस तरह घबराकर भागते लोगों को मैं देख चुका था। देखते-ही-देखते प्लेटफार्म खाली हो गया। मगर डब्बे के अन्दर अभी भी हँसी-मज़ाक चल रहा था।

—कहीं कोई गड़बड़ है, मेरे पास बैठे दुबले बाबू ने कहा।

कहीं कुछ था, लेकिन क्या था, कोई भी स्पष्ट नहीं जानता था। मैं अनेक दंगे देख चुका था इसलिए वातावरण में होनेवाली छोटी-सी तब्दीली को भी भाँप गया था। भागते व्यक्ति, खटाक् से बन्द होते दरवाज़े, घरों की छतों पर खड़े लोग, चुप्पी और सन्नाटा, सभी दंगों के चिह्न थे।

तभी पिछले दरवाज़े की ओर से, जो प्लेटफार्म की ओर न खुलकर दूसरी ओर खुलता था, हल्का-सा शोर हुआ। कोई मुसाफिर अन्दर घुसना चाह रहा था।

—कहाँ घुसा आ रहा, नहीं है जगह! बोल दिया जगह नहीं है, किसी ने कहा।

—बन्द करो जी दरवाज़ा। यों ही मुँह उठाये घुसे आते हैं··· आवाज़ें आ रही थीं।

जितनी देर कोई मुसाफिर डब्बे के बाहर खड़ा अन्दर आने की चेष्टा करता रहे, अन्दर बैठे मुसाफिर उसका विरोध करते रहते हैं। पर एक बार जैसे-तैसे वह अन्दर आ जाये तो विरोध खत्म हो जाता है, और वह मुसाफिर जल्दी ही डब्बे की दुनिया का निवासी बन जाता है, और अगले स्टेशन पर वही सबसे पहले बाहर खड़े मुसाफिरों पर चिल्लाने लगता है—नहीं है जगह, अगले डब्बे में जाओ···घुसे आते हैं···

दरवाज़े पर शोर बढ़ता जा रहा था। तभी मैले-कुचैले कपड़ों और लटकती मूँछोंवाला एक आदमी दरवाज़े में से अन्दर घुसता दिखायी दिया। चीकट मैले कपड़े, ज़रूर कहीं हलवाई की दूकान करता होगा। वह लोगों की शिकायतों-आवाज़ों की ओर ध्यान दिये बिना दरवाज़े की ओर घूमकर बड़ा-सा काले रंग का सन्दूक अन्दर की ओर घसीटने लगा।

—आ जाओ, आ जाओ, तुम भी चढ़ आओ! वह अपने पीछे किसी से कहे जा रहा था। तभी दरवाज़े में एक पतली सूखी-सी औरत नज़र आयी और उससे पीछे सोलह-सत्तरह बरस की साँवली-सी एक लड़की अन्दर आ गयी। लोग अभी भी चिल्लाये जा रहे थे। सरदारजी को कूल्हों के बल उठकर बैठना पड़ा।

—बन्द करो जी दरवाजा, बिना पूछे चढे आते हैं, अपने बाप का घर समझ रखा है। मत घुसने दो जी, क्या करते हो, धकेल दो पीछे··· और लोग भी चिल्ला रहे थे।

वह आदमी अपना सामान अन्दर घसीटे जा रहा था और उसकी पत्नी और बेटी संडास के दरवाजे के साथ लगकर खड़ी थी।

—और कोई डब्बा नहीं मिला? औरत जात को भी यहाँ उठा लाया है?

वह आदमी पसीने से तर था और हाँफता हुआ सामान अन्दर घसीटे जा रहा था। सन्दूक के बाद रस्सियों से बँधी खाट की पाटियाँ अन्दर खींचने लगा।

—टिकट है जी मेरे पास, मैं बेटिकट नहीं हूँ। लाचारी है, शहर में दंगा हो गया है। बड़ी मुश्किल से स्टेशन तक पहुँचा हूँ। इस पर डब्बे में बैठे बहुत-से लोग चुप हो गये, पर वर्थ पर बैठा पठान उचककर बोला—निकल जाओ इदर से, देखता नईं ए इदर जगा नईं ए।

और पठान ने आव देखा न ताव, आगे बढ़कर ऊपर से ही उस मुसाफिर के लात जमा दी, पर लात उस आदमी को लगने के बजाय उसकी पत्नी के कलेजे में लगी और वह वहीं हाय-हाय करती बैठ गयी।

उस आदमी के पास मुसाफिरों के साथ उलझने के लिए वक्त नहीं था। वह बराबर अपना सामान अन्दर घसीटे जा रहा था। पर डब्बे में मौन छा गया। खाट की पाटियों के बाद बड़ी-बड़ी गठरियाँ आयीं। इस पर ऊपर बैठे पठान की सहन-क्षमता चुक गयी। निकालो इसे, कौन ए ये? वह चिल्लाया। इस पर दूसरे पठान ने जो नीचे की सीट पर बैठा था उस आदमी का सन्दूक दरवाज़े में से नीचे धकेल दिया जहाँ लाल वर्दीवाला एक कुली खड़ा सामान अन्दर पहुँचा रहा था।

उसकी पत्नी के चोट लगने पर कुछ मुसाफिर चुप हो गये थे। केवल कोने में बैठी बुढ़िया कुरलाये जा रही थी—ऐ नेक बख्तो, बैठने दो। आ जा बेटी, तू मेरे पास आ जा। जैसे-तैसे सफर काट लेंगे। छोड़ो वे जालिमो, बैठने दो।

अभी आधा सामान ही अन्दर आ पाया होगा जब सहसा गाड़ी सरकने लगी।

—छूट गया! सामान छूट गया! वह आदमी बदहवास-सा होकर

चिल्लाया।

—पिताजी, सामान छूट गया। संडास के दरवाजे के पास खड़ी लड़की सिर से पांव तक कांप रही थी और चिल्लाये जा रही थी।

उतरो, नीचे उतरो, वह आदमी हड़बड़ाकर चिल्लाया, और आगे बढ़कर खाट की पाटियाँ और गठरियाँ बाहर फेंकते हुए दरवाजे का डंडहरा पकडकर नीचे उतर गया। उसके पीछे उसकी भयाकुल बेटी और फिर उसकी पत्नी, कलेजे को दोनों हाथों से दबाये हाय-हाय करती नीचे उतर गयी।

—बहुत बुरा किया है तुम लोगो ने, बहुत बुरा किया है। बुढ़िया ऊँचा-ऊँचा बोल रही थी—तुम्हारे दिल मे दर्द मर गया है। छोटी-सी बच्ची उसके साथ थी। बेरहमो, तुमने बहुत बुरा किया है, धक्के देकर उतार दिया है।

गाडी सूने प्लेटफार्म को लांघती आगे बढ़ गयी। डब्बे मे व्याकुल-सी चुप्पी छा गयी। बुढ़िया ने बोलना बन्द कर दिया था। पठानों का विरोध कर पाने की किसी की हिम्मत नही हुई।

तभी मेरी बगल मे बैठे दुबले बाबू ने मेरे बाज़ू पर हाथ रखकर कहा—आग है, देखो आग लगी है।

गाडी प्लेटफार्म छोड़कर आगे निकल आयी थी और शहर पीछे छूट रहा था। तभी शहर की ओर से उठते धुएँ के बादल और उनमे लपलपाती आग के शोले नजर आने लगे थे।

—दंगा हुआ है। स्टेशन पर भी लोग भाग रहे थे। कही दंगा हुआ है।

शहर मे आग लगी थी। बात डब्बे-भर के मुसाफिरो को पता चल गयी और वे लपक-लपककर खिड़कियों मे से आग का दृश्य देखने लगे।

जब गाडी शहर छोडकर आगे बढ़ गयी तो डब्बे में सन्नाटा छा गया। मैंने घूमकर डब्बे के अन्दर देखा, दुबले बाबू का चेहरा पीला पड गया था और माथे पर पसीने की परत किसी मुर्दे के माथे की तरह चमक रही थी। मुझे लगा, जैसे अपनी-अपनी जगह बैठे सभी मुसाफिरों ने अपने आस-पास बैठे लोगों का जायजा ले लिया है। सरदारजी उठकर मेरी सीट पर आ बैठे। नीचेवाली सीट पर बैठा पठान उठा और अपने दो साथी पठानों के साथ ऊपरवाली बर्थ पर चढ गया। यही क्रिया शायद रेलगाड़ी के अन्य

डब्बों में भी चल रही थी। डब्बे में तनाव आ गया। लोगों ने बतियाना बन्द कर दिया। तीनों के तीनों पठान ऊपरवाली बर्थ पर एक साथ बैठे चुपचाप नीचे की ओर देखे जा रहे थे। सभी मुसाफिरों की आँखें पहले से ज्यादा खुली-खुली, ज्यादा शंकित-सी लगी। यही स्थिति सम्भवत. गाड़ी के सभी डब्बों में व्याप्त हो रही थी।

—कौन-सा स्टेशन था यह? डब्बे में किसी ने पूछा।

—वजीराबाद, किसी ने उत्तर दिया।

जवाब मिलने पर डब्बे में एक और प्रतिक्रिया हुई। पठानों के मन का तनाव फौरन ढीला पड़ गया, जबकि हिन्दू-सिख मुसाफिरों की चुप्पी और ज्यादा गहरी हो गयी, एक पठान ने अपनी वास्कट की जेब में से नसवार की डिबिया निकाली और नाक में नसवार चढ़ाने लगा। अन्य पठान भी अपनी-अपनी डिबिया निकालकर नसवार चढ़ाने लगे। बुढ़िया बराबर माला जपे जा रही थी। किसी-किसी वक्त उसके बुदबुदाते होंठ नजर आते, लगता, उनमें से कोई खोखली-सी आवाज निकल रही है।

अगले स्टेशन पर जब गाड़ी रुकी तो वहाँ भी सन्नाटा था। कोई परिन्दा तक नहीं फड़क रहा था। हाँ, एक भिश्ती, पीठ पर पानी की मशक लादे, प्लेटफार्म लाँघकर आया और मुसाफिरों को पानी पिलाने लगा।

—लो, पियो पानी, पानी पियो। औरतों के डब्बे में से औरतों और बच्चों के अनेक हाथ बाहर निकल आये थे।

—बहुत मार-काट हुई है, बहुत लोग मरे हैं। लगता था, वह इस मार-काट में अकेला पुण्य कमाने चला आया है।

गाड़ी सरकी तो सहसा खिड़कियों के पल्ले चढ़ाये जाने लगे। दूर-दूर तक, पहियों की गड़गड़ाहट के साथ, खिड़कियों के पल्ले चढ़ाने की आवाज आने लगी।

किसी अज्ञात आशंकावश दुबला बाबू मेरे पासवाली सीट पर से उठा और दो सीटों के बीच फर्श पर लेट गया। उसका चेहरा अभी भी मुर्दे जैसा पीला हो रहा था। इस पर बर्थ पर बैठा पठान उसकी ठिठोली करने लगा—ओ बेगैरत, तुम मर्द ए कि औरत ए? सीट पर से उठकर नीचे लेटता ए। तुम मर्द के नाम को बदनाम करता ए। वह बोल रहा था और बार-बार हँसे जा रहा था। फिर वह उससे पश्तो में कुछ कहने लगा।

बाबू चुप बना लेटा रहा। अन्य सभी मुसाफिर चुप थे। डब्बे का वातावरण बोझिल बना हुआ था।

—ऐसे आदमी को अम डब्बे में बैठने नईं देगा। ओ बाबू, तुम अगले स्टेशन पर उतर जाओ, और जनाना डब्बे मे बैठो।

मगर बाबू की हाजिर-जवाबी अपने कण्ठ में सूख चली थी। हकलाकर चुप हो रहा। पर थोडी देर बाद वह अपने आप सीट पर जा बैठा और देर तक अपने कपड़ों की धूल झाड़ता रहा। वह क्यों उठकर फर्श पर लेट गया था। शायद उसे डर था कि बाहर से गाड़ी पर पथराव होगा या गोली चलेगी, शायद इसी कारण खिडकियों के पल्ले चढ़ाये जा रहे थे।

कुछ भी कहना कठिन था। मुमकिन है किसी एक मुसाफिर ने किसी कारण से खिडकी का पल्ला चढाया हो और उसकी देखा-देखी, बिना सोचे-समझे, धडाधड खिडकियों के पल्ले चढाये जाने लगे हों।

बोझिल अनिश्चित-से वातावरण में सफर कटने लगा। रात गहराने लगी थी। डब्बे के मुसाफिर स्तब्ध और शकित ज्यों-के-त्यों बैठे थे। कभी गाडी की रफ्तार सहसा टूटकर धीमी पड जाती तो लोग एक-दूसरे की ओर देखने लगते। कभी रास्ते में ही रुक जाती तो डब्बे के अन्दर का सन्नाटा और भी गहरा हो उठता। केवल पठान निश्चिंत बैठे थे। हाँ, उन्होंने भी बतियाना छोड दिया था। क्योंकि उनकी बातचीत मे कोई भी शामिल होनेवाला नहीं था।

धीरे-धीरे पठान ऊँघने लगे जबकि अन्य मुसाफिर फटी-फटी आँखों से शून्य में देखे जा रहे थे। बुढ़िया मुँह-सिर लपेटे, टाँगें सीट पर चढाये, बैठी-बैठी सो गयी थी। ऊपरवाली बर्थ पर एक पठान ने, अधलेटे ही, कुर्ते की जेब मे से काले मनकों की तसबीह निकाल ली और उसे धीरे-धीरे हाथ मे चलाने लगा।

खिडकी के बाहर आकाश में चाँद निकल आया और चाँदनी मे बाहर की दुनिया और भी अनिश्चित, और भी अधिक रहस्यमयी हो उठी। किसी-किसी वक्त दूर किसी ओर आग के शोले उठते नजर आते, कोई नगर जल रहा था। गाडी किसी वक्त चिंघाड़ती हुई आगे बढने लगती, फिर किसी वक्त उसकी रफ्तार धीमी पड़ जाती और मीलों तक धीमी रफ्तार से ही चलती रहती।

सहसा दुबला बाबू खिड़की में से बाहर देखकर ऊँची श्रावाज में बोला—हरबंसपुरा निकल गया है ! उसकी आवाज में उत्तेजना थी, वह जैसे चीखकर बोला था । डब्बे के सभी लोग उसकी श्रावाज सुनकर चौंक गये । उसी वक्त डब्बे के अधिकांश मुसाफिरों ने मानो उसकी श्रावाज को ही सुनकर करवट बदली ।

—खो बाबू, चिल्लाता क्यों ए ? तसबीह वाला पठान चौंककर बोला—इधर उतरेगा तुम ? जंजीर खींचूं ? श्रौर खीं-खीं करके हँस दिया । जाहिर है वह हरबंसपुरा की स्थिति से अथवा उसके नाम से अनभिज्ञ था ।

बाबू ने कोई उत्तर नहीं दिया, केवल सिर हिला दिया श्रौर एक-आध बार पठान की श्रोर देखकर फिर खिड़की के बाहर झाँकने लगा ।

डब्बे में फिर मौन छा गया । तभी इंजन ने सीटी दी श्रौर उसकी एक-रस रफ्तार टूट गयी । थोड़ी ही देर बाद खटाक् का-सा शब्द भी हुआ, शायद गाड़ी ने लाइन बदली थी । बाबू ने झाँककर उस दिशा में देखा जिस श्रोर गाड़ी बढ़ी जा रही थी ।

—शहर श्रा गया है ! वह फिर ऊँची श्रावाज में चिल्लाया—अमृतसर श्रा गया है ! उसने फिर से कहा श्रौर उछलकर खड़ा हो गया, श्रौर ऊपर वाली बर्थ पर लेटे पठान को सम्बोधन करके चिल्लाया—श्रो बे पठान के बच्चे ! नीचे उतर तेरी माँ की···नीचे उतर, तेरी उस पठान बनानेवाले की मैं···

बाबू चिल्लाने लगा था श्रौर चीख-चीखकर गालियाँ बकने लगा था । तसबीह वाले पठान ने करवट बदली श्रौर बाबू की श्रोर देखकर बोला—श्रो क्या ए बाबू ? श्रम को कुछ बोला ?

बाबू को उत्तेजित देखकर अन्य मुसाफिर भी उठ बैठे ।

—नीचे उतर, तेरी मैं···हिन्दू श्रौरत को लात मारता है, हरामजादे, तेरी उस···

—श्रो बाबू, बक-बक नईं करो । श्रो खंजीर के तुख्म, गाली मत बको, श्रमने बोल दिया । श्रम तुम्हारा जबान खींच लेगा ।

—गाली देता है मादर···बाबू चिल्लाया श्रौर उछलकर सीट पर चढ़ गया । वह सिर से पाँव तक काँप रहा था ।

—बस-बस, सरदारजी बोले—यह लड़ने की जगह नहीं है । थोड़ी

देर का सफर बाकी है, ग्राराम से बैठो।

—तेरी मैं लात न तोड़ूँ तो कहना, गाडी तेरे बाप की है ? बाबू चिल्लाया।

—ग्रो ग्रमने क्या बोला। सभी लोग उसको निकालता था, ग्रमने भी निकाला। ये इदर ग्रमको गाली देता ए। ग्रम इसका जबान खीच लेगा। बुढ़िया बीच मे फिर बोल उठी—वे जीण जोगयो, ग्राराम नाल बैठो। वे रब्ब दियो बंदयो, कुज होश करो।

उसके होठ किसी प्रेत के होंठो की तरह फड़फड़ाये जा रहे थे और उनमें से क्षीण-सी फुसफुसाहट सुनायी दे रही थी।

बाबू चिल्लाये जा रहा था—ग्रपने घर मे शेर बनता था। ग्रब बोल, तेरी मैं उस पठान बनानेवाले की'''

तभी गाडी ग्रमृतसर के प्लेटफार्म पर रुकी। प्लेटफार्म लोगो से खचाखच भरा था। प्लेटफार्म पर खड़े लोग झाँक-झाँककर डब्बो के ग्रन्दर देखने लगे। बार-बार लोग एक ही सवाल पूछ रहे थे—पीछे क्या हुग्रा है ? कहाँ पर दंगा हुग्रा है ?

खचाखच भरे प्लेटफार्म पर शायद इसी बात की चर्चा चल रही थी कि पीछे क्या हुग्रा है। प्लेटफार्म पर खड़े दो-तीन खोमचेवालो पर मुसाफिर टूटे पड रहे थे। सभी को सहसा भूख ग्रौर प्यास परेशान करने लगी थी। इसी दौरान तीन-चार पठान हमारे डब्बे के बाहर प्रकट हो गये ग्रौर खिड़की मे से झाँक-झाँककर ग्रन्दर देखने लगे। ग्रपने पठान साथियो पर नजर पडते ही वे उनसे पश्तो मे कुछ बोलने लगे। मैंने घूमकर देखा, बाबू डब्बे मे नहीं था। न जाने कब वह डब्बे मे से निकल गया था। मेरा माथा ठनका। गुस्से से वह पागल हुग्रा जा रहा था। न जाने क्या कर बैठे। पर इस बीच डब्बे के तीनों पठान, ग्रपनी-ग्रपनी गठरी उठाकर बाहर निकल गये ग्रौर ग्रपने पठान साथियों के साथ गाडी के ग्रगले किसी डब्बे की ग्रोर बढ गये। जो विभाजन पहले प्रत्येक डब्बे के भीतर होता रहा था, ग्रब सारी गाड़ी के स्तर पर होने लगा था।

खोमचेवालो के इर्द-गिर्द भीड छॅटने लगी। लोग ग्रपने-ग्रपने डब्बों में लौटने लगे। तभी सहसा एक ग्रोर से मुझे वह बाबू ग्राता दिखायी दिया। उसका चेहरा ग्रभी भी बहुत पीला था ग्रौर माथे पर बालों की लट झूल रही थी। नजदीक पहुँचा, तो मैंने देखा, उसने ग्रपने दायें हाथ में लोहे की

एक छड़ उठा रखी थी। जाने वह उसे कहाँ से मिल गयी थी। डब्बे में घुसते समय उसने छड़ को अपनी पीठ पीछे कर लिया और मेरे साथवाली सीट पर बैठने से पहले उसने हौले से छड को सीट के नीचे सरका दिया। सीट पर बैठते ही उसकी आँखें पठान को देख पाने के लिए ऊपर को उठी। पर डब्बे में पठानों को न पाकर वह हड़बड़ाकर चारों ओर देखने लगा।

—निकल गये हरामी, मादर'''सब-के-सब निकल गये! फिर वह सिटपिटाकर उठ खड़ा हुआ और चिल्लाकर बोला—तुमने उन्हें जाने क्यों दिया? तुम सब नामर्द हो, बुजदिल!

पर गाड़ी में भीड बहुत थी। बहुत-से नये मुसाफिर आ गये थे। किसी ने उसकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया।

गाड़ी सरकने लगी तो वह फिर मेरी बगलवाली सीट पर आ बैठा, पर वह बड़ा उत्तेजित था और बराबर बड़बड़ाये जा रहा था।

धीरे-धीरे हिचकोले खाती गाड़ी आगे बढने लगी। डब्बे के पुराने मुसाफिरों ने भरपेट पूरियाँ खा ली थी और पानी पी लिया था और गाड़ी उस इलाके से आगे बढने लगी थी, जहाँ उनके जान-माल को खतरा नहीं था।

नये मुसाफिर बतिया रहे थे। धीरे-धीरे गाड़ी फिर समतल गति से चलने लगी थी। कुछ ही देर बाद लोग ऊँघने भी लगे थे। मगर बाबू अभी भी फटी-फटी आँखों से सामने की ओर देखे जा रहा था। बार-बार मुझसे पूछता कि पठान डब्बे में से निकलकर किस ओर को गये हैं। उसके सिर पर जनून सवार था।

गाडी के हिचकोलों मे मैं खुद ऊँघने लगा था। डब्बे मे लेट पाने के लिए जगह नही थी। बैठे-बैठे ही नीद में मेरा सिर कभी एक ओर को लुढक जाता, कभी दूसरी ओर को। किसी-किसी वक्त झटके से मेरी नीद टूटती, और मुझे सामने की सीट पर अस्त-व्यस्त-से पड़े सरदारजी के खर्राटे सुनायी देते—अमृतसर पहुँचने के बाद सरदारजी फिर से सामनेवाली सीट पर टाँगें पसारकर लेट गये थे। डब्बे मे तरह-तरह की आड़ी-तिरछी मुद्राओं में मुसाफिर पड़े थे। उनकी वीभत्स मुद्राओं को देखकर लगता, डब्बा लाशों से भरा है। पास बैठे बाबू पर नजर पड़ती तो कभी तो वह खिड़की के बाहर मुँह किये देख रहा होता, कभी दीवार से पीठ लगाये तनकर बैठा नजर आता।

किसी-किसी वक्त गाड़ी किसी स्टेशन पर रुकती तो पहियों की गड़-गड़ाहट बन्द होने पर निःस्तब्धता-सी छा जाती। तभी लगता, जैसे प्लेट-फार्म पर कुछ गिरा है, या जैसे कोई मुसाफिर गाड़ी में से उतरा है और मैं झटके से उठकर बैठ जाता।

इसी तरह एक बार जब मेरी नींद टूटी तो गाड़ी की रफ्तार धीमी पड़ गयी थी, और डब्बे में अँधेरा था। मैंने उसी तरह अधलेटे खिड़की में से बाहर देखा। दूर, पीछे की ओर किसी स्टेशन के सिगनल के लाल कुमकुमे चमक रहे थे। स्पष्टतः गाड़ी कोई स्टेशन लाँघकर आयी थी। पर अभी तक उसने रफ्तार नहीं पकड़ी थी।

डब्बे के बाहर मुझे धीमे-से अस्फुट स्वर सुनायी दिये। दूर ही एक धूमिल-सा काला पुंज नजर आया। नींद की खुमारी में मेरी आँखें कुछ देर तक उस पर लगी रहीं, फिर मैंने उसे समझ पाने का विचार छोड़ दिया। डब्बे के अन्दर अँधेरा था, बत्तियाँ बुझी हुई थीं, लेकिन बाहर लगता था, पौ फटने वाली है।

मेरी पीठ पीछे, डब्बे के बाहर किसी चीज़ को खरोंचने की-सी आवाज़ आयी। मैंने दरवाज़े की ओर घूमकर देखा। डब्बे का दरवाजा बन्द था। मुझे फिर से दरवाज़ा खरोंचने की आवाज सुनायी दी, फिर मैंने साफ-साफ सुना, लाठी से कोई व्यक्ति डब्बे का दरवाजा पटपटा रहा था। मैंने झाँक-कर खिड़की के बाहर देखा। सचमुच एक आदमी डब्बे की दो सीढ़ियाँ चढ़ आया था। उसके कन्धे पर एक गठरी झूल रही थी और हाथ में लाठी थी और उसने बदरंग-से कपड़े पहन रखे थे और उसके दाढ़ी थी। फिर मेरी नजर बाहर नीचे की ओर गयी। गाड़ी के साथ-साथ एक औरत भागती चली आ रही थी, नंगे पाँव और उसने दो गठरियाँ उठा रखी थीं। बोझ के कारण उससे दौड़ा नहीं जा रहा था। डब्बे के पायदान पर खड़ा आदमी बार-बार उसकी ओर मुड़कर देख रहा था और हाँफता हुआ कहे जा रहा था—आ जा, आ जा, तू भी चढ़ आ, आ जा!

दरवाज़े पर फिर से लाठी पटपटाने की आवाज़ आयी—खोलो जी दरवाज़ा, खुदा के वास्ते दरवाज़ा खोलो।

वह आदमी हाँफ रहा था—खुदा के लिए दरवाज़ा खोलो। मेरे साथ में औरत जात है। गाड़ी निकल जायेगी···

सहसा मैंने देखा, बाबू हड़बड़ाकर उठ खड़ा हुआ और दरवाज़े के पास

जाकर दरवाज़े में लगी खिड़की में से मुँह बाहर निकालकर बोला--कौन है ? इधर जगह नही है।

बाहर खड़ा आदमी फिर गिड़गिड़ाने लगा—खुदा के वास्ते गाड़ी निकल जायेगी···

और वह आदमी खिडकी मे से अपना हाथ अन्दर डालकर दरवाजा खोल पाने के लिए सिटकनी टटोलने लगा।

—नही है जगह, बोल दिया, उतर जाओ गाड़ी पर से। बाबू चिल्लाया और उसी क्षण लपककर दरवाजा खोल दिया।

या अल्लाह ! उस आदमी के अस्फुट-से शब्द सुनायी दिये। दरवाजा खुलने पर जैसे उसने इतमीनान की सांस ली हो।

और उसी वक्त मैंने बाबू के हाथ मे छड़ को चमकते देखा। एक ही भरपूर वार बाबू ने उस मुसाफिर के सिर पर किया था। मैं देखते ही डर गया और मेरी टाँगें लरज गयीं। मुझे लगा, जैसे छड के वार का उस आदमी पर कोई असर नही हुआ। उसके दोनों हाथ अभी भी जोर से डंडहरे को पकड़े हुए थे। कन्धे पर से लटकती गठरी खिसककर उसकी कोहनी पर आ गयी थी।

तभी सहसा उसके चेहरे पर लहू की दो-तीन धारें एक साथ फूट पडी। झुरमुटे मे मुझे उसके खुले होंठ और चमकते दाँत नजर आये। वह दो-एक बार 'या अल्लाह !' बुदबुदाया फिर उसके पैर खडखड़ा गये। उसकी आँखों ने बाबू की ओर देखा, अधमुँदी-सी आँखें, जो धीरे-धीरे सिकुड़ती जा रही थी, मानो उसे पहचानने की कोशिश कर रही हों कि वह कौन है और उससे किस अदावत का बदला ले रहा है। इस बीच अँधेरा कुछ और छन गया था। उसके होंठ फिर से फडफड़ाये और उनमें उसके सफेद दाँत फिर से झलक उठे। मुझे लगा, जैसे वह मुसकराया है पर वास्तव मे केवल त्रास के ही कारण उसके होंठो मे बल पड़ने लगे थे।

नीचे पटरी के साथ-साथ भागती औरत बडबड़ाये और कोसे जा रही थी। उसे अभी भी मालूम नही हो पाया था कि क्या हुआ है ! वह अभी भी शायद यही समझ रही थी कि गठरी के कारण उसका पति गाडी पर ठीक तरह से चढ नही पा रहा है, कि उसका पैर जम नहीं पा रहा है। वह गाड़ी के साथ-साथ भागती हुई, अपनी दो गठरियो के बावजूद अपने पति के पैर को पकड़-पकड़कर सीढी पर टिकाने की कोशिश कर रही थी।

तभी सहसा डंडहरे पर से उस आदमी के दोनों हाथ छूट गये और वह कटे पेड़ की भाँति नीचे जा गिरा। और उसके गिरते ही औरत ने भागना बन्द कर दिया, मानो दोनो का सफर एक साथ ही खत्म हो गया हो।

बाबू अभी भी मेरे निकट, डब्बे के खुले दरवाजे मे बुत-का-बुत बना खडा था. लोहे की छड अभी भी उसके हाथ मे थी। मुझे लगा, जैसे वह छड़ को फेंक देना चाहता है लेकिन उसे फेंक नही पा रहा, उसका हाथ जैसे उठ नही रहा था। मेरी साँस अभी भी फूली हुई थी और डब्बे के अँधियारे कोने मे मैं खिडकी के साथ सटकर बैठा उसकी ओर देखे जा रहा था।

फिर वह आदमी खड़े-खडे हिला। किसी अज्ञात प्रेरणावश वह एक कदम आगे बढ आया और दरवाजे में से बाहर पीछे की ओर देखने लगा। गाडी आगे निकलती जा रही थी। दूर, पटरी के किनारे अँधियारा पुंज-सा नजर आ रहा था।

बाबू का शरीर हरकत मे आया। एक झटके मे उसने छड को डब्बे के बाहर फेंक दिया। फिर घूमकर डब्बे के अन्दर दायें-बायें देखने लगा। सभी मुसाफिर सोये पडे थे। मेरी ओर उसकी नजर नही उठी।

थोडी देर तक वह खड़ा डोलता रहा, फिर उसने घूमकर दरवाजा बन्द कर दिया। उसने ध्यान से अपने कपड़ो की ओर देखा, अपने दोनो हाथो की ओर देखा, फिर एक-एक करके अपने दोनो हाथो को नाक के पास ले जाकर उन्हे सूँघा, मानो जानना चाहता हो कि उसके हाथो से खून की बू तो नही आ रही है। फिर वह दबे पाँव चलता हुआ आया और मेरी बगलवाली सीट पर बैठ गया।

धीरे-धीरे झुटपुटा छँटने लगा, दिन खुलने लगा। साफ-सुथरी-सी रोशनी चारो ओर फैलने लगी। किसी ने जंजीर खींचकर गाड़ी को खडा नही किया था, छड खाकर गिरी उसकी देह मीलो पीछे छूट चुकी थी। सामने गेहूँ के खेतो मे फिर से हल्की-हल्की लहरियाँ उठने लगी थीं।

सरदारजी बदन खुजलाते उठ बैठे। मेरी बगल मे बैठा बाबू, दोनों हाथ सिर के पीछे रखे सामने की ओर देखे जा रहा था। रात-भर मे उसके चेहरे पर दाढ़ी के छोटे-छोटे बाल उग आये थे। अपने सामने बैठा देखकर सरदार उसके साथ बतियाने लगा—बडे जीवट वाले हो बाबू, दुबले-पतले

हो, पर बड़े गुर्दे वाले हो। बड़ी हिम्मत दिखायी है। तुमसे डरकर ही वे पठान डब्बे में से निकल गये। यहाँ बने रहते तो एक-न-एक की खोपड़ी तुम जरूर दुरुस्त कर देते···और सरदारजी हँसने लगे।

बाबू जवाब में मुसकराया—एक बीभत्स-सी मुसकान, और देर तक सरदार के चेहरे की ओर देखता रहा।

●

ललक

बचपन में एक ललक हर वक्त मुझे बेचैन किये रहती कि मेरी जेब में ढेर-सी पैसे हों, जिन्हें मैं खनकाता फिरूँ, लोग सुनें और ताज्जुब करें कि मैं कितना अमीर हूँ; सिर पर लम्बे-लम्बे बाल हों, नीचे मांडी लगा सरसराता पाजामा हो, पैरों में चमचमाते बूट हों जो दूर से ही चीं-चीं करते सुनायी दें। पर हमारे पिताजी का विश्वास दूध-दही में ज्यादा था, कपड़े-लत्ते में कम। बूट के नाम पर गामाशाही जूती पहनने को मिलती, जिसे हफ्तों तेल देना पड़ता, पहनने से पहले ही उसका रंग बरसाती चूहे जैसा स्याह पड चुका होता। उसे देखते ही दिल बुझ जाता था। न वह जूता घिसता, न फटता, न उसकी एड़ी बैठती। कपड़ों की भी यही कैफियत थी। अव्वल तो किसी-न-किसी के उतरे हुए कपड़े पहनने को मिलते, ऐसा न होता तो कमीज-पाजामा माँ सी देती थी। और यदि माँ बाल काट सकती तो मुझे कभी नाई के पास भी नही जाना पडता। हजामत बनाने के लिए एक थलथल, पिलपिल व्यक्तिम हीने मे दो बार घर पर आया करता था। वह पिताजी की दाढी बनाता, उनकी मूँछों में से सफेद बाल चुनता, उनके नाखून तराशता और चलने से पहले मशीन उठाकर, और मेरा सिर अपने घुटनों के बीच दबोचकर मेरी हसरतों का सफाया कर जाता। हाँ, कभी-कभी पड़ोस की मस्जिद की दीवार के साथ बैठे नाई के पास भी मुझे भेज दिया जाता। वह इसरार करने पर मान जाता और पपोटा-भर लम्बे बाल माथे पर बने रहने देता। मशीन चलाने के बाद वह सिर पर आम की गुठली भी रगड़ता था, जिससे उन दिनों सुनते थे, बाल मुलायम हो जाते हैं। यों मुलायम बाल मेरी किस्मत में नही थे। ऐन चुटिया के आस-पास कुछेक

बाल सदा खड़े रहते। मेरा सारा बचपन इन बालों को बैठाने में बीता है। मैं लोटों पानी इन पर उडेलता, फिर भी सूखने पर ये तनकर खड़े हो जाते थे।

मेरे पिताजी गरीबी में से उठे थे, मगर उठने के बाद भी वह गरीब ही बने रहे। गरीबी के ज़माने में उनके दिल में अमीरों का जो डर बैठ गया था, वह स्वयं अमीर बन जाने पर भी उनके दिल में से नहीं निकल पाया। अमीरों के ठाठ-बाट से वह घबराते थे। इस बात का भी शायद उन्हें विश्वास था कि अमीरी बुरी चीज़ है, पैसा तो होना चाहिए पर अमीरी नहीं होनी चाहिए। चुनांचे उनके हर काम में गरीबी की पुट बनी रहती थी। हमारे शहर में जब बिजली आयी तो उसमें भी पिताजी को अमीरी की चकाचौंध नजर आयी। हमारे घर में सबसे आखिर में बिजली लगी, वह भी अन्धी बिजली, सोलह कैण्डल पॉवर से ऊँचा कोई बल्ब न था, उस पर से न शौचालय में बिजली, न ऊपर जानेवाली सीढ़ियों में बिजली। पिताजी की अपनी पोशाक में अगर कुर्ता साफ होता तो पाजामा मैला रहता, और जो पाजामा साफ होता तो कुर्ता मैला रहता था। अमीरी को घर से दूर रखने का उनका यही उपाय था। इसके बावजूद—या शायद इसी कारण अमीरी की हवस मेरे दिल में कसमसाती रहती थी।

मैं अपनी जूती को पानी से धोता, घर के धुले पाजामे के ऊपर ईंटें रख-रखकर उसकी सिलवटें निकाल लेता, बालों पर सरसों का तेल चुपडता, बन्द गले के अपने कोट के दो बटनों के बीच पिताजी का रूमाल खोंस लेता और सीधा रोशनलाल के घर की दहलीज़ पर जा खडा होता। रोशनलाल मेरा सहपाठी था और नंगा सोता था। अधेड़ उम्र की उसकी विधवा माँ, मिट्टी से पुती कोठरी में ज़मीन पर बैठी जब मेरी ओर देखती और हाथ बढ़ाकर कहती, 'ओओ, छोटे बाबूजी, आज तो बड़े बन-ठनकर आये हो,' तो मुझे बड़ा सन्तोष होता। मेरे पास जूते थे, रोशन के पास वे भी नहीं थे, उसके पास पहननेवाले कपड़ों का भी एक ही जोड़ा था, इसीलिए वह नंगा सोता था, और उसके कुर्ते पर टीन के बटन लगे रहते थे और खाकी कोट के नीचे से धागे लटकते रहते थे। उस घर के सामने खड़ा मैं अमीर लगता था। रोशन की विधवा माँ मिट्टी की तश्तरी में मुझे सत्तू घोलकर पीने को देती तो मैं नाक चढ़ाकर मुँह फेर लेता था।

वहाँ से मैं धर्मदत्त के घर जा पहुँचता था। उसका घर एक सँकरी गली

मे था, और उसका बाप अन्धा था, और उनकी कोठरी मे दिन के वक्त भी दीया जला करता था। उसका बाप अन्दर कोठरी के झुटपुटे मे बैठा रहता, और माँ दिन-भर गली मे खुलनेवाले दरवाजे पर बैठी रहती। मैं धर्मदत्त को बताता कि हमारे घर मे एक सन्दूक है जिसमें पेंसिलें ही पेंसिलें भरी हैं, तो दीये की अस्थिर रोशनी में मुझे लगता कि उसकी आँखें अधिकाधिक खुलती जा रही है और उनके जर्द पीले चेहरे पर घूमने लगी हैं। वे आँखें जितनी ज्यादा खुलती जाती, उतना ज्यादा मैं आश्वस्त महसूस करता।

गरीब सहपाठियो की सरपरस्ती करने के बाद मैं 'कोठीवालो' के बँगले की ओर निकल पडता। वहाँ पर मेरा एक सहपाठी रहता था, पर वह सचमुच का अमीर था। उसका बँगला एक बाग के सामने था, और उसके चारो ओर दीवार खिंची थी, और अन्दर ढेर-मे पेड थे। वहाँ पहुँचकर मैं झरोखो मे से झाँकता, देर तक बँगले के आसपास मँडराता रहता। कभी वह बाहर निकल आता और कुछ देर तक मेरे साथ बातें करता, कभी वह बाहर नही आता था और मैं बीसियो बार झरोखो में से ताकने और बँगले की परिक्रमा करने के बाद घर लौट आता था।

उस लडके का नाम हरदेव था और उसके साथ दोस्ती गाँठ पाने के लिए मैं बेकरार रहता था। जब से वह स्कूल मे पढने आया था मेरी दुनिया बदल गयी थी। उसकी नामदार आँखें सारा वक्त अधखुली-सी रहती, और तैरती-सी नजर से वह चारों ओर देखता। मैं भी वैसे ही आँखें खोलने लगा और तैरती नजर से चारो ओर देखने लगा। हरदेव का मुँह सारा वक्त खुला रहता और निचला होंठ तनिक लटकता रहता। मैं भी मुँह खोले घूमने लगा, ताकि मेरा होंठ भी लटका रहे, पर उसका होंठ गदराया हुआ था, इस कारण लटक सकता था, जबकि मेरा होंठ पतला था, तना रहता। वह हर काम धीरे-धीरे करता था, सिर हिलाता तो धीरे-धीरे, मुस्कराता तो धीरे-धीरे अधखुली नामदार आँखो और गदराये लटकते होंठों के साथ। तभी मैंने जाना कि सच्ची अमीरी सुस्ती में पायी जाती है, हौले-हौले उठने-बैठने मे, धीमे-धीमे मुस्कराने मे, तैरती नजर से देखते रहने मे। अन्य लडकों की तरह न वह भागता, न झपटता, न उछलता था। और उसके सिर पर बाल थे जो खुशबूदार तेल के कारण चमकते थे, और उसके मुँह में से खास तरह की बास आया करती थी, जो क्लास के किसी भी अन्य लड़के के मुँह से नही आती थी, जिससे खिचा हुआ मैं उसके इर्द-गिर्द मँडराया

करता। कभी चलते-चलते मैं उसकी कमीज पर हाथ फेर जाता क्योंकि वह रेशमी कमीज पहना करता था। किसी तरह उस लड़के से दोस्ती हो जाय, यह ललक दिन-रात मुझे कुछ खाने लगी थी। इसी आशा से मैं उसके बँगले के चक्कर लगाया करता था। झरोखों में से मैं मन्त्रमुग्ध-सा झाँकता रहता। अन्दर एक बहुत बड़ा आँगन था जिसमें लाल और सफेद रंग के बड़े-बड़े चौके बिछे थे, जैसे शतरंज की बिसात होती है। यही संगमरमर होगा, मैं मन-ही-मन कहता। आँगन के पीछे अनगिनत खम्भे थे, वे भी संगमरमर के रहे होंगे, और बरामदे में एक महिला खाट पर लेटी रहती। वह सुनहरे फ्रेम का चश्मा लगाये रहती और उसने बड़े साफ-सुथरे कपड़े पहन रखे होते और वह बड़ी नाजुक-सी लगती थी, न रोशन की माँ की तरह बूढ़ी, न मेरी माँ की तरह मोटी। आँगन में जगह-जगह चीजें बिखरी पड़ी रहती थीं—बच्चों की बग्घी, बड़ा-सा भालू, रंग-रंग के गेंद और बल्ले और गुड़ियाँ। तभी मैंने जाना कि अमीर वे हैं जिनके घर में चीजें बिखरी पड़ी रहती हैं, और बरामदे में बीमार औरत लेटी रहती है जो रेशमी कपड़े पहनती है और आँखों पर सुनहरे फ्रेम का चश्मा लगाती है। वहाँ से लौटते हुए मैं देखता कि बाहर दीवार पर कहीं कोई इश्तहार नहीं लगा था। इतनी लम्बी दीवार थी, मगर फिर भी कोई इश्तहार नहीं था, जबकि हमारे घर की दीवार पर रोज कोई-न-कोई आदमी इश्तहार लगा जाता था। पिताजी चिल्लाते हुए उसके पीछे भागते थे, फिर भी कोई-न-कोई आदमी इश्तहार लगा जाता था।

हरदेव को मैं अपने घर पर नहीं बुला [illegible]। [illegible] दोमिलोंवाला सन्दूक दिखाना चाहता था और सुनहरे [illegible]। पर एक दिन उसने मुझे अपने घर बुला लिया। [illegible] जन्मदिन है, तुम भी आना। हमारे घर हॉकी का [illegible] हॉकी स्टिक है? मैंने सिर हिला दिया। निमन्त्रण [illegible] डटी कि उस रात मैं सो नहीं पाया, [illegible] पर जाना, यह देखने के लिए कि पौ कब फटेगी।

मेरे पास एक [illegible] एक ही लम्बे टुकड़े [illegible] तराशकर बनाई हुई। [illegible] नहीं थी न [illegible] पिताजी की [illegible]। [illegible] झनझना [illegible], पर निकर [illegible]

चिल्लाया, बहुत रोया, पर एक दिन में माँ के सुघड़ हाथ भी निक्कर नही सी सकते थे। चुनांचे पाजामा पहना, और नीचे गामाशाही जूता।

"खेलते वक्त जूता उतार देना और पाजामा ऊपर को चढ़ा लेना, अपने-आप निक्कर बन जायेगी।" माँ ने ढाडस बँधाते हुए कहा।

खेल का मैदान बँगले की ही बगल में था और ऊँचे-ऊँचे पेड़ों से घिरा था। हरदेव और उसके बहुत-से साथी पहले से मौजूद थे। सभी आस-पास के बँगलों से आये जान पड़ते थे, किसी की कलाई पर घड़ी थी तो किसी के हाथ में अँगूठी। कुछ मेरे सहपाठी भी थे, चिमन था, जिसके बाप की सोडावाटर की दूकान थी, और बरकत था और हरवंस था। केवल चिमन ने मेरी तरह पाजामा पहन रखा था, बाकी सब निक्करों में थे। वहाँ हरदेव का बड़ा भाई भी था, हम सबसे ऊँचा, और उसके चेहरे पर मूँछें उग रही थी। वह भी हॉकी उठाये खड़ा था।

हम लोग अभी पालियों में नही बँटे थे जब पेड़ों के झुरमुट में से, बँगले की ओर से एक सफेद पगड़वाला आदमी आता दिखायी दिया। बन्द गले के कोट के ऊपर बड़ा-सा पगड़ बांधे था और मैदान की ओर चला आ रहा था। वह हरदेव के पिताजी थे।

"मैच होगा मैच?" वह नजदीक आकर बोले, "शाबाश, शाबाश, शाबाश, खेलो मैच, खेलो।" वह हँस दिये। मैं एकटक उनके चेहरे की ओर देखे जा रहा था। उनका वाक्य समाप्त हो चुका था, मगर उनके गले में से घरघराती हुई हँसी की आवाज़ अभी भी आ रही थी।

"यह लड़का कौन है?" मेरी ओर इशारा करते हुए उन्होंने पूछा, शायद इसलिए कि मैंने पाजामा पहन रखा था।

"मैं हरदेव का जमाती हूँ जी," मैंने चहककर कहा।

"अच्छा, अच्छा, अच्छा, पाजामा-पार्टी, पाजामा-पार्टी, अच्छा, अच्छा, शाबाश, शाबाश, खेलो, खेलो।" उन्होंने कहा और सिर पर से पगड़ उतारकर बायें हाथ की हथेली पर रख लिया और क्यारियों के साथ-साथ टहलते हुए मैदान के दूसरे छोर की ओर जाने लगे।

पाजामा-पार्टी नाम सुनकर बहुत-से लड़के हँसने लगे। उनमें हरदेव का बड़ा भाई मगत भी था, जो एक पैर के नीचे गेंद को दबाये अपनी काली-काली मूँछों के बीच हँसे जा रहा था।

"इस लगूर को कहाँ से पकड़ लाये हो? पाजामेवाला लंगूर।" मंगत

ने कहा। इस पर सभी हँसने लगे।

जब पालियाँ बँटने लगी तो कुछ लड़कों ने मंगत के खेलने पर एतराज किया।

"तुम बहुत बड़े हो, तुम हमारे साथ नहीं खेल सकते।"

पर वह हँसता रहा, और पैर के नीचे गेंद को दबाये रहा।

"हम नहीं खेल सकते, तो हम किसी को खेलने भी नहीं देंगे।" उसने कहा।

तभी मैंने दूर खड़े-खड़े कहा, "यह मैच हो रहा है, तुम नहीं खेल सकते।"

मंगत ने मेरी ओर देखा। "अच्छा जी!" कहा और गेंद को उछालकर हॉकी के ब्लेड पर ले आया। तीन बार उसे ब्लेड पर उछालने के बाद गेंद को जमीन पर फेंकते हुए उसने जोर से मेरी दिशा मे टुल लगाया। गेंद सरसराता हुआ, ऐन मेरी टाँगों के पास से होकर गुजरा। मेरी आँखों के सामने से एक काला-सा साया घूम गया। मैंने शिकायत-भरी नजर से हरदेव के पिताजी की ओर देखा। मगर वह दूर जा चुके थे और अभी भी पग्गड हाथ में लिये छाती फुलाकर लम्बे-लम्बे साँस खींच रहे थे।

फिर खेल शुरू हुआ, और मुझे याद नहीं उस खेल मे क्या हुआ। कभी तो मैं दायाँ हाथ चिथड़े की तरह हवा में हिला रहा था, तो कभी मैदान के किनारे बैठा, मिट्टी की चुटकियाँ भर-भरकर अपने छिले हुए घुटनों पर डाल रहा था, लड़कों की टाँगों के जंगल में से सफेद गेंद पारे की तरह इधर-उधर घूम रहा था और बार-बार सरसराता हुआ मेरी ओर आ रहा था। बार-बार मेरी आँखों के सामने अँधेरा साया घूम जाता। एक बार इसी अँधेरे साये में लगा जैसे सफेद लकीर-सी आयी और लगा जैसे मेरी बायीं टाँग के निचले हिस्से मे किसी ने चाकू भोंक दिया हो। चीखता हुआ-सा दर्द टाँग मे उठा। फिर मुझे लगा जैसे जोर से जमीन मुझ पर आ गिरी है। मेरे सामने निक्करों, सफेद जूतों, पतली-पतली टाँगों का जंगल-सा छितरा था। तभी मुझे आवाज आयी, "फाउल, फाउल, फाउल! मंगतजी का फाउल! मंगतजी का फाउल!"

हरदेव के पिताजी मैदान के दूसरे सिरे पर हाथ में पग्गड़ थामे खड़े थे और तर्जनी हिलाते हुए हँस-हँसकर कहे जा रहे थे, "फाउल, फाउल, फाउल! मंगतजी का फाउल!"

पिताजी की आवाज सुनकर मैदान के बीचोबीच खड़ा मंगत भी हँसे जा रहा था।

खेल फिर शुरू हुआ और फिर से आँधी चलने लगी। कभी मैं बचने के लिए उछलता तो कभी आँखें बन्द किये अपनी जगह पर खड़ा रह जाता। मगत घूम-फिरकर गेंद को कभी मेरी ओर तो कभी चिमन की ओर ले जाता, क्योंकि उसने भी पाजामा पहन रखा था। जब भी वह हमारे पास पहुँचता तो खिलाडी अपने-आप पीछे हट जाते। कुछ तो हँसी से लोट-पोट हुए जा रहे थे।

"फाउल, फाउल, फाउल! मंगतजी का फाउल!" किसी-किसी वक्त बाहर खडे पगड़ीवाले बाबूजी की ढीली-ढाली आवाज सुनायी देती, जो हँस-हँसकर और तर्जनी हिला-हिलाकर मगत की भर्त्सना कर रहे होते।

यह आँधी तब थमी जब आसमान पर से साये उतरने लगे। तब वहाँ शरबत आया। पेडो के झुरमुट मे से एक काला-सा आदमी बडी-सी ट्रे में चाँदी-सा चमकता जग और काँच के गिलास रखे चला आ रहा था।

"शाबाश, शाबाश, शाबाश, शरबत पियो, बच्चो, शरबत पियो।"

'इनको भी पिलाओ," पगडीवाले बाबूजी ने कहा, "पाजामा-पार्टी को पिलाओ। शाबाश, शाबाश, शाबाश!"

अँधेरा पड चुका था जब मैं और चिमन और दो-एक अन्य सहपाठी बँगले के बाहर, दीवार के साथ-साथ चलते हुए घर की ओर जा रहे थे। मेरे मन मे बार-बार एक ही असंगत-सा वाक्य चक्कर काट रहा था—इस दीवार पर कोई आदमी इश्तहार नही लगा सकता। इश्तहार लगानेवाला हवाला पुलिस किया जायेगा।...मेरा सिर भन्ना रहा था। कही कोई गहरी खरोच पड गयी थी जिसे मैं समझ नही पा रहा था।

मेरे साथी चहक रहे थे, बतियाते एक-दूसरे को ठेलते बढे जा रहे थे।

"हम डरते तो किसी के बाप से भी नहीं हैं। अपने घर मे शेर बनता है। हिम्मत है तो बाहर मैदान मे आये।"

यह चिमन की आवाज थी। चिमन को भी चोटें आयी थीं। उसे भी मैंने अपना हाथ चिथडे की तरह हवा मे झुलाते देखा था, जहाँ बीच की उँगलियों से खून बह रहा था।

"एक बार पत्थर मारूँगा, सिर फोड दूँगा।" वह कह रहा था। तभी बरकत मेरी तरफ मुखातिब होकर बोला, "अरे, डरता क्यो है? कल ही

हरदेव का भाई स्कूल मे ग्राये तो पकड़ ले।"

"एक बार तो मैंने भी उसकी मरम्मत की है," मैं बड़े रोब से बोला, "वह टुल लगाने लगा तो मैंने पीछे से हॉकी ग्रड़ा दी। मेरी हॉकी उसकी उँगलियों पर लगी।"

पर मैं झूठ बोल रहा था। मैंने हॉकी ग्रडाई जरूर थी, मगर इसके बाद, न जाने क्यों, मेरी ग्राँखें बन्द हो गयी थीं।

तब मंगत को पीटने के मनसूबे बनाये जाने लगे। तरह-तरह के सुझाव दिये जाने लगे। तब भी एक ग्रसंगत-सा वाक्य बार-बार मेरे मस्तिष्क मे घूम जाता—पर मैं हरदेव को कुछ नहीं कहूँगा, हरदेव को कुछ नहीं कहूँगा...

तभी वह घटना घटी। यह नही कह सकता कि जो हुग्रा कैसे हुग्रा, इतना जानता हूँ कि जो हुग्रा पलक मारते हो गया था।

बँगले की लम्बी दीवार पीछे छूट चुकी थी, ग्रौर हम बड़ा-सा मोड़ काटकर शहर में दाखिल हो चुके थे। वकील हरनामदास का घर भी पीछे छूट चुका था, जिसकी छत पर दिन के वक्त उल्लू बैठता था, ग्रौर पुलिस का थाना भी, जहाँ हम रोज़ कैदी देखने ग्राते थे। उस वक्त हम गन्दे नाले की ग्रोर जानेवाली ढलान उतर रहे थे, जहाँ बायीं ग्रोर बूढ़े सालगराम की झोंपड़ी थी। बूढ़ा सालगराम यहाँ ग्रकेला रहता था ग्रौर ढेरो थिगलियाँ उसके झोंपड़े में पड़ी थीं। बूढ़ा सालगराम न जाने कौन था, नीम-पागल था, जासूस था, भिखमंगा था, कोई धनी था जिसने कि गलियो के ढेर के नीचे पूरे सत्तर रुपये दबा रखे थे, न जाने वास्तव मे वह कौन था, पर ग्राते-जाते स्कूल के लड़के उसे काली मुर्गी का चोर कहकर बुलाते थे ग्रौर जवाब मे वह चिल्लाता ग्रौर गालियाँ बका करता था।

इस वक्त बूढा सालगराम लकड़ी की ग्रपनी छोटी-सी खोह के दरवाजे पर हमारी ग्रोर पीठ किये बैठा था ग्रौर खोह के ग्रन्दर तेल की कुप्पी जल रही थी, जिसकी टिमटिमाती रोशनी मे साये डोल रहे थे।

"काली कुक्कड़ी दा चोर ई!"

रोज की तरह चिमन ने चिल्लाकर कहा, ग्रौर बराबर ढलान उतरता गया। रोज़ ही की तरह बूढ़े सालगराम ने बैठे-बैठे ही चिल्लाकर जवाब दिया, "तेरा प्यो ई!"

"तेरा बाप होगा" (मैं नही, तेरा बाप काली मुर्गी का चोर होगा!)

"काली कुक्कड़ी दा चोर ई !"

ढलान की ओर से फिर आवाज़ आयी, "तेरा प्यो ई !" बूढ़े ने जवाब दिया।

बूढा खड़ा होता तो वेहद लम्बा लगता, टेढे लम्बे साये की तरह, पर इस वक़्त वह बैठा था और उसकी पीठ हमारी ओर थी, और उसने पीठ पर टाट का टुकडा डाल रखा था।

तभी मैंने आगे बढकर उसकी पीठ पर हॉकी दे मारी। वह बिलबिला उठा। उसकी पीठ पर से टाट का टुकडा नीचे गिर गया।

दूर से फिर किसी लडके की आवाज़ आयी, "काली कुक्कडी दा चोर ई !"

पर मैं वहीं खडा था। अजब था कि मैं डर नही रहा था। बूढा उठकर नीचे उतरा। तभी मैंने मंगत की-सी सफाई के साथ, उसके टखने पर ज़ोर से हॉकी जमा दी, और वह कराहकर ज़मीन पर बैठ गया।

इसके बाद जो कुछ हुआ वह भी बवंडर-सा ही था। इस वक़्त भी मैं अपनी हॉकी को झोपड़ी के अन्दर सरकते साफ देख सकता हूँ। तेल की जलती कुप्पी गिर गयी थी, और झोपडी मे अँधेरा छा गया था। फिर उसमे से धुआँ निकलने लगा था। बूढ़ा गालियाँ बकने के बजाय अब ज़मीन पर बैठा ऊँचा-ऊँचा रोने लगा था, "ओ मिकी मारी दित्ता ! ओये मिकी मारी दित्ता !"

तभी खोह के अन्दर से किसी जानवर की जीभ की तरह आग की लपट निकली थी, और बूढा रोते-रोते खाँसने लगा था। तब सहसा धुएँ की बडी-सी गठरी एक साथ खोह के मुँह मे से निकली थी, और खोह का मुँह अन्दर मे लाल हो गया था और मैं सरपट भागकर ढलान उतरने लगा था।

"ओ मिकी मारी दित्ता ! ओ मेरे करम फूट गये !" पीछे से उसकी आवाज़ बराबर आती रही थी।

जिस वक्त मैं नाले के पास पहुँचा तो बाकी लड़के वहाँ पर नही थे। जिस वक्त मैं भागा था उस वक्त खोह का मुंह अन्दर से लाल हो चुका था और वह धुआँ उगल रही थी। नाला पार करने से पहले मैंने घूमकर देखा, अब वहाँ आग की लपटें थी, और नीचे अभी भी धुएँ की गठरियाँ-सी बनती नज़र आ रही थी। गठरियाँ खुल जाती तो उनमे से आग के शोले निकलते। फिर उनकी जगह धुएं की नयी गठरियाँ बन-बनकर खोह मे से

निकलने लगती। बूढ़ा शायद अभी भी वहीं खड़ा बिलबिलाये जा रहा था। तभी मुझे साफ, बिल्कुल साफ सुनायी दिया, जैसे हरदेव के पिताजी की आवाज़ थी। हँस-हँसकर कह रहे थे—

'फाउल, फ़ाउल, फाउल !

शाबाश, शाबाश, शाबाश !

खेलो, खेलो, खेलो !...'

•

नया मकान

गिरिजा बाबू ने मकान बनवाया है और मैं और मेरी पत्नी सिर हिलाते, वाह-वाह करते, जुलूस की शक्ल में एक कमरे से दूसरे कमरे की ओर बढ़ते चले जा रहे हैं। गिरिजा की बीवी, गोल-मटोल विमला, हँस-हँसकर एक के बाद एक कमरा, गुसलखाना, संडास दिखाती जा रही है। विमला के गदराये शरीर में अभी भी बाँकपन है। बात करती हुई झट से मुड़ जाती है, फिर झट से हँसने लगती है, नाक में लगी हीरे की लौंग बात-बे-बात पर चमकने लगती है। गिरिजा सकुचाता-सा साथ चला आ रहा है।

मकान के पिछवाड़े में गिरिजा की पत्नी एक कमरे के दरवाज़े के सामने रुकी, हमारी ओर मुड़कर हँस दी और बड़े नाटकीय ढंग से बोली —यह रहा आपके दोस्त का कमरा! और दरवाजा खोलकर हमें अन्दर चलने को इशारा किया।

छोटा-सा कमरा था। देखने में नौकर का कमरा लगता था। कमरे में सस्ते तम्बाकू की बू आ रही थी और फर्श पर चार मीनार सिगरेट की डिब्बियाँ और अधजले सिगरेटों के टुकड़े बिखरे पड़े थे। दीवार के साथ एक खाट पर गूदड़-सा बिस्तर पड़ा था···दो खुरदरे कम्बल और मैली-सी चादर और उसमें से अभी कोई आदमी निकलकर गया जान पड़ता था।

—इन्हें यहाँ सोना पसन्द है! विमला ने हँसकर कहा।

—तुम यहाँ सोते हो, गिरिजा? क्या भाभी ने अभी से···?

—रोज़ नहीं, कभी-कभी! विमला बीच में बोली—जब कभी पुराने कॉमरेडी दिनों की याद सताती है, तो यहाँ आ जाते हैं!

—इसे क्या मालूम, यहाँ सोने में कितना मज़ा है! गिरिजा बोला।

—हाँ जी, क्यों नहीं ! यहाँ पर बैठकर यह चार मीनार सिगरेट फूँकते हैं। मैंने यहाँ इनके लिए कॉमरेडी ज़िन्दगी का सब इन्तजाम कर दिया है ! विमला हँसकर बोली—वह देखो, दासे पर केतली भी रख दी है और बड़ा-सा फौजी मग भी रख दिया है। काली चाय बनाओ और पियो और इनकलाबी गीत गाओ ! कॉमरेडी के दिनों के लिए तरस-तरस जाता है मेरा घरवाला···!

—आप क्या जानें विमलाजी, उस ज़माने का अपना रंग था ! मैंने गिरिजा की ओर देखकर कहा।

—मैं खूब जानती हूँ ! मैं नहीं जानती, तो कौन जानता है ! फिर अपने पति का मानो मज़ाक उड़ाती हुई बोली—इन पर जब भी जनून चढ़ता है, तो यहाँ आकर पड़े रहते हैं, या फिर अपनी दो पाकेटोंवाली खाकी कमीज़ पहन लेंगे और साइकल पर निकल जायेंगे। घण्टों घूमते रहते हैं। जाने क्या करते हैं, कहाँ जाते हैं ! पर लौटते हैं, तो सारे शरीर पर धूल-ही-धूल !

मैं ज़ोर से हँस दिया—सुन लिया, गिरिजा, तेरे बारे में तेरी बीवी क्या सोचती है ? मिट्टी में कौन लोटता है, विमलाजी ?

—मैं क्या जानूँ···हाय, आप तो मतलब निकालते हैं···

गिरिजा सुन रहा था और मुसकरा रहा था। एक अजीब तृप्ति का-सा भाव उसके चेहरे पर आ गया था—हमारा क्या है, हमारी जगह तो सड़क की पटरी पर है ! मकान बनवाया, तो क्या हुआ, एक दिन फिर बुक़चा उठायेंगे और पटरी पर लौट जायेंगे !

विमला ने मुसकराते हुए देखा और सिर हिला दिया—यह कहीं नहीं जायेंगे ! यह गीदड़-भभकी मैं बरसों से सुन रही हूँ !

गिरिजा कटकर रह गया—तुम मुझे जानती नहीं हो, विमला ! मैं आज भी वही कुछ हूँ, जो बीस साल पहले हुआ करता था।

—मैं खूब जानती हूँ जी, तुम तब भी वही कुछ थे, जो आज हो ! विमला ने व्यंग्य से कहा—तुम समझते हो, दो पाकेटोंवाली कमीज़ पहन ली, तो क्रान्तिकारी बन गये ! अब तो वह भी पहनते हो, तो जुकाम लग जाता है तुम्हें ! विमला कहकर हँसने लगी।

गिरिजा खिसिया गया, पर मुसकराता रहा।

—अब यह क्रान्ति यहीं पर कर लिया करो जितनी करनी है ! और

हँसते-बतियाते हम लोग कमरे से बाहर निकल ग्राये।

गिरिजा किसी ज़माने मे कॉमरेड हुग्रा करता था, किसी यूनियन में काम किया करता था। फिर उसने ऐसा मोड़ काटा कि पता ही नही चला, कॉमरेडी कहाँ गयी! मुझे नही मालूम था कि उसे कॉमरेडी के दिनों की याद सताती भी होगी। पर गिरिजा भावुक हो रहा था, बार-बार मुझसे बगलगीर हो रहा था। पत्नी के व्यंग्य के बावजूद उसे शायद इस बात की खुशी थी कि पत्नी ने भी चाहे-ग्रनचाहे उसके कॉमरेडी दिल की तो गवाही दे दी है।

विमला बराबर हमें घर का कोना-कोना दिखाती जा रही थी। घर में ग्रभी भी रोगन ग्रौर वार्निश की बू ग्रा रही थी।

—पूरे दस महीने तक हर रोज़ मैं यहाँ ग्राती रही हूँ। नज़र रखे बिना काम नही चलता। ठेकेदारों पर छोड़ दो, तो रुपये का चवन्नी हाथ लगता है! विमला बोली।

हम बैठने वाले कमरे मे लौट ग्राये। ग्रभी नया फर्नीचर नही ग्राया था। दो-तीन सोफा-कुर्सियाँ थी, फर्श नगा था। केवल एक नया, लाल शेड वाला लैम्प कुर्सियों के पास रखा था।

—ग्रब तो बड़ा तरद्दुद करना पड़ेगा। विमला मेरी पत्नी से कह रही थी—इतने बड़े घर की सफाई के लिए ग्रलग ग्रादमी चाहिए। फिर बागीचे की देख-भाल। ग्रगर मोटर यह ले जायें, तो दिन-भर मैं ग्रकेली घर मे बैठी क्या कौए उड़ाया करूँगी? शोफर रखने को कहती हूँ, तो यह नाक-भौं चढाने लगते हैं। इन्हे बात-बात पर झेंप होने लगती है। कहती हूँ, बढिया कपड़े पहना करो, तो इन्हे बुरा लगता है। ग्रगर यह बात थी, तो मकान नही बनवाना था। उधर पैसे कमाते हो, इधर झेंपते भी हो, यह क्या बात है?

बैठक मे पहुँचकर गिरिजा सहसा चहककर बोला—ग्राग्रो यार, नीचे फर्श पर दरी बिछाते हैं ग्रौर उस पर बैठकर खाना खा लेते हैं। याद है, उन दिनो कैसे रहा करते थे?

दरवाज़े मे खड़े दो नौकरो को ग्रटपटा लग रहा था कि साहब पालथी मारकर फर्श पर बैठ गया है। एक नौकर भागकर गया ग्रौर कुर्सी पर से गद्दी उठा लाया।

—इसकी क्या जरूरत है ? इसकी कोई जरूरत नहीं !

—ऐसे नहीं बैठो जी, ठण्ड लग जायेगी ! विमला झट से बोली।

—कुछ नहीं होगा, तुम चिन्ता न करो।

—तुम्हें वे दिन याद हैं, जब तुम पुलिस को चकमा देकर भागे थे ? मैंने कहा—विमलाजी, आपको याद है, जब गिरिजा पुलिस को चकमा देकर भाग गया था ?

—यह यों ही भागते फिरें, तो इनकी मरजी, पर इनसे पूछिए, कभी पकड़े भी गये थे ? जिसके मामा पुलिस में हों, उसे किस बात का डर ?

—वे दिन बहुत अच्छे थे ! गिरिजा ने कहा। उसकी आँखें चमकने लगी—बड़ी बेपरवाही के दिन थे। जब भी वे दिन याद आते हैं, तो मॉडल टाउन को जानेवाले रास्ते पर दूर-दूर तक फैली बिजली के खम्भों की बत्तियाँ मेरी आँखों के सामने उभर आती हैं, जिनके नीचे मीलों चलता हुआ मैं स्टेशन से घर पहुँचता था।

—कपूर की माँ तो तुम्हें शेर बच्चा कहकर बुलाती थी। मैंने कहा।

विमला हँस दी और अपने पति के चेहरे की ओर देखने लगी—क्यों जी, आपको शेर बच्चा कहा करते थे ?

—आप हँसती हैं, विमलाजी, पर कपूर की माँ सचमुच इन्हें शेर बच्चा कहकर बुलाती थी। और भी कितने लोग बुलाया करते थे। क्यों गिरिजा, बुलाया करते थे, या नहीं ? गिरिजा के बारे में तो कहा जाता था कि गिरिजा या तो घर लौट जायेगा, या फिर पेशेवर क्रान्तिकारी बन जायेगा।

गिरिजा के चेहरे पर अभी भी तृप्ति का भाव तैर रहा था। बुदबुदाकर बोला—पर वह घर ही लौट गया !

फिर वह सहसा उठा और दीवार में लगी आलमारी में से नारंगी रंग की ह्विस्की की बोतल उठा लाया—हम जल्दी खाना नहीं खायेंगे, विमला! आज हम सेलिब्रेट करेंगे !

—जो मन में आये करो, मगर नौकरों के बारे में सोच लो। कितनी देर तक उन्हें बैठाये रखोगे ! तुम्हीं मुझे लेक्चर दिया करते हो ! फिर मेरी पत्नी की ओर मुड़कर कहने लगी—कॉमरेड पति होने से मुझमें बड़ा फर्क आ गया है। नौकरों के प्रति मेरा रवैया बदल गया है। पहले कभी नौकर आगे से जवाब देता था, तो मैं उसी वक्त उसे घर से निकाल देती थी। पर

अब मैं नौकरों को निकालती नहीं। मैं कहती हूँ, डाँट-डपट से काम लो। किसी दूसरे को रखूँगी, तो वह कौन-सा शरीफ होगा !

गिरिजा ने मेरे हाथ में गिलास पकड़ाया और अपना गिलास ऊँचा करके बोला—चीअर्स ! गिलास उठाओ, भाई !

—चीअर्स ! ऑल दि बेस्ट ! मैंने गिलास खनकाते हुए कहा और एक लम्बा घूँट भरकर अपनी जगह पर बैठ गया।

—हाँ यार, सुनाओ वह किस्सा···मैंने गिरिजा से आग्रह किया—जब तुम पुलिस को चकमा देकर भागे थे।

कमरा सिगरेटों के धुएँ से भरने लगा था, जिससे नये मकान में बैठने की झेंप दूर होने लगी थी। बोतल खुल जाने से माहौल में स्निग्धता आ गयी थी, जिससे रहा-सहा परायापन भी जाता रहा था।

—छोड़ो यार, पुरानी बात है ! बार-बार दोहराने में क्या मजा है ! लेकिन गिरिजा खुद सरूर में आ रहा था और मुझे लगा, जैसे वह खुद बीते दिनों के किस्से सुनाना चाहता है।

—वे दिन बहुत अच्छे थे। वह कह रहा था—एक स्कूल के कमरे में हमारी मीटिंग चल रही थी···ऊपर की मंजिल में। पिछवाड़े हनुमानजी का मन्दिर था। तभी पता चला कि स्कूल को पुलिस ने घेर लिया है।

गिरिजा को सुनाते-सुनाते गर्व का भास होने लगा और वह हिलोर में आने लगा—मैंने सोचा, पिछवाड़े की सीढ़ियों उतरकर आँगन में चला जाऊँगा और आँगन पार कर चपरासियों के क्वार्टरों के रास्ते बाहर निकल जाऊँगा। पर मैं क्या देखता हूँ कि पीछे को उतरनेवाली कोई सीढ़ी ही नहीं है। मैंने आव देखा न ताव, छत पर से आँगन में छलाँग लगा दी।

—वाह, खूब !

एक छोटी-सी दीवार आँगन और मन्दिर के बीच हदबन्दी का काम करती थी। शाम का वक्त था और अँधेरा पड़ रहा था। मैं पलक मारते दीवार फाँदकर मन्दिर के आँगन में। मैंने पहले तो सीधा मन्दिर का मुँह किया, बुशर्ट उतारकर बाँह पर रख ली, मन्दिर की एक खिड़की पर फूल रखे थे, वे उठा लिये और दो भक्तों के पीछे-पीछे चलता हुआ मन्दिर के बाहर आ गया।

वाह !

—मन्दिर का फाटक पार करते ही क्या देखता हूँ कि आगे पुलिस के सिपाही खड़े हैं। पर मैं एक हाथ में फूल पकड़े, बुशशर्ट कन्धे पर डालता हुआ ऐन उनके सामने से होकर दायें हाथ को घूम गया। उन दिनों, सच, बड़ी हिम्मत हुआ करती थी। फिर कुछ ही दूर चलने के बाद जब मैं अँधेरे में पहुँच गया और पुलिस के सिपाही पीछे छूट गये तो मैं सरपट भागने लगा।

—वाह !

विमला किस्सा सुनती रही। फिर गिरिजा की ओर देखते हुए हँसकर बोली—तुम्हें इतना भागने की क्या जरूरत थी ? किसी गली में घुस जाते। फिर, जिसके मामा को पुलिस के बड़े-बड़े अफसर जानते हों, उसे कौन पकड़ेगा ?

—अरे, मेरा मामा तो खुद मुझे गिरफ्तार करवाने को फिरता था···! गिरिजा ने तनिक खीजकर कहा।

—रहने दो जी, मैं तो इतना जानती हूँ कि तुम्हारे मामाजी को पुलिस के सभी अफसर जानते थे। तुम यों ही भागते फिरो, तो कोई क्या करे ? कभी छिप रहे हैं, कभी शहर छोड़ रहे हैं। पहले तो मैं बड़ी डरा करती थी। मैं कहूँ, यह कहीं पकड़े गये, तो मुसीबत आयेगी। फिर मेरे पिताजी ने मुझे अपने पास बुला लिया। मुझसे कहने लगे, कुछ नहीं होगा। खाते-पीते घरों के लड़के ज्यादा दूर नहीं जाते। करने दे इसे जितना इनकलाब करना है ! कहती हुई विमला हँस दी।

गिरिजा का चेहरा फीका पड़ गया। उसके सारे क्रान्तिकारी अतीत पर, जिसकी स्मृतियाँ वह बरसों से दिल में सँजोये हुए था, विमला राख पोते जा रही थी।

—और वह रामरतन भी तो···? मैंने गिरिजा से पूछा।

उत्तर विमला ने दिया—हाँ, वह भी वहीं पर था। वह भी क्रान्ति कर रहा था। उसका बाप सरकारी वकील था न।

—आप तो आज हाथ धोकर गिरिजा के पीछे पड़ी है, विमलाजी ! इस बेचारे के तो क्रान्ति के इन्तजार में बाल सफेद हो गये और आपको यह सारा मजाक लगता है !

—मैं तो अभी भी सड़कों की खाक छान सकता हूँ ! गिरिजा बीच में बोला—उसी में जिन्दगी का मजा था ! उसी में जिन्दगी का कोई मतलब

था···! गिरिजा कहे जा रहा था। उसके हाथ में पकड़ा गिलास टेढ़ा हो रहा था।

विमला पति की ओर से मुंह फेरकर मेरी पत्नी से बोली—सच, मैं पहले बहुत डरा करती थी। जब हम लोग जालन्धर में रहने लगे, तो हमारे पास पूरे साढ़े तीन हज़ार रुपये थे। वह कहे जा रही थी—मैंने इनसे कहा, 'चलो, कोई छोटा-मोटा काम देख लेते हैं, ताकि कुछ कमाई का साधन बन जाये।' पर यह हमेशा की तरह सिर झटक दें, 'उँह!' विमला ने सिर झटककर गिरिजा की नकल उतारते हुए कहा, 'क्रान्ति ज्यादा ज़रूरी है, या नौकरी?' मैं कहूँ, 'ठीक है, क्रान्ति ज्यादा ज़रूरी है, पर पल्ले पैसे भी तो हो।' मैं कहूँ, 'यह साढ़े तीन हज़ार रुपये कितनी देर चलेंगे?' कहने लगे, 'क्यों? हमारे लिए बहुत हैं। छह महीनों में तो क्रान्ति आया चाहती है, फिर समाजवाद आ जायेगा।' मैं कहूँ, 'समाजवाद में क्या नौकरी-धन्धा नहीं करोगे?' तो बोले, 'तब मैं समाजवाद की स्थापना करूँगा, या नौकरियाँ करता फिरूँगा?' कहते हुए विमला खिलखिलाकर हँसने लगी—खूब तमाशा किया करते थे यह साहब! याद है, जब रेलवे वालों की हड़ताल हुई थी? उसने पति को सम्बोधन करते हुए कहा, पर गिरिजा की आँखें फर्श पर लगी थीं और वह चुपचाप गिलास को थामे बैठा था।

विमला कहे जा रही थी—इन्हें रात को नींद नहीं आयी। हड़ताल से एक दिन पहले की बात है। आधी रात हो गयी और यह सोये नहीं। छत पर कभी मुंडेर के एक सिरे पर, कभी दूसरे सिरे पर जा खड़े हों। और सिगरेट-पर-सिगरेट फूंकते जायें। मैं इनके पास गयी, तो कहने लगे, 'कल जगह-जगह खून बहेगा! कल मुमकिन है, इनकलाब आ जायें, तुम हिम्मत रखना। मुझे शायद इधर-उधर हो जाना पड़े। और कोई मुसीबत भी आ सकती है। क्रान्ति का डंका बजनेवाला है!' मैंने कहा, 'तुम इस वक्त तो आराम से जाकर सो रहो। जब क्रान्ति का डंका बजेगा, तो मैं तुम्हें जगा दूंगी।' पर नहीं जी, यह मुझ पर बिगड़ने लगे। मुझे देर तक लेक्चर पिलाते रहे। मैं चुपचाप जाकर सो रही।

—यही आपकी सेहत का राज़ है, विमलाजी! इसीलिए आप वैसी की वैसी हैं! मैंने कहा।

—मैं कोई बात भी दिल को नही लगाती।

—गिरिजा को भी नही ?

—हत् ! विमला ने हँसकर कहा।

गिरिजा की आँखों में नशा उतर आया था, कुछ शराब का, कुछ पुरानी यादों का।

—मैं तो अभी भी सड़कों की खाक छान सकता हूँ···! वह बुदबुदाया, मानो अपने-आपसे बातें करने लगा हो।

—अब कह दो कि मैंने तुम्हें अपने रास्ते पर से हटाया ! विमला बोली—मैंने किसी को उसके रास्ते से नही हटाया। क्रान्ति करना चाहते है, तो जायें, मैं इन्हें पकड़े हुए हूँ ?

मैंने स्थिति को सँभालने की चेष्टा करते हुए कहा—छोड़ो यार, मारो गोली ! क्रान्ति होगी, तो विमलाजी को दिखा देंगे। गिरिजा, कोई बढ़िया सी नज्म सुनाओ, यार ! तुम्हें तो बहुत-सी नज्में याद थी।

गिरिजा हतबुद्धि-सा मेरी ओर देखने लगा, मानो मैं भी उसकी पत्नी के साथ मिलकर उसका मजाक उड़ाने लगा हूँ।

—सुनाओगे ? किताब ला दूँ ?

विमला बोली—तुम बैठो, मैं ले आती हूँ। कौन-सी किताब चाहिए ? फिर हँसकर बोली—क्रान्ति वाले कमरे मे ही रखी है ना ?

—नही, नही, मुझे किताब नही चाहिए। मुझे याद है।

—सुना दो कोई बढ़िया-सी नज्म। विमलाजी ने मूड खराब कर दिया है।

—हाँ, मैंने मूड खराब कर दिया है ! विमला ने उलाहने के स्वर में कहा—मैंने किसी का मूड खराब नही किया।

गिरिजा गुनगुनाती-सी आवाज मे सुनाने लगा।

मुझ से पहली-सी मुहब्बत मेरी महबूब न माँग···

नज्म शुरू होने पर विमला छूटते ही हँस दी—बड़ी घिसी-पिटी नज्म है ! मैं इनसे कहा करती हूँ इस नज्म से तो कॉमरेड लोग पितरों की पूजा आरम्भ करते हैं !

—यह बहुत बढ़िया नज्म है, विमलाजी ! इस एक नज्म ने हमारे अदब का रुख मोड़ दिया है।

पर गिरिजा अपने सरूर मे नज्म सुनाये जा रहा था। मिसरे पढ़ते

हुए उसका वदन धीरे-धीरे झूलने लगा था।

ग्रौर भी दुख हैं जमाने में मुहब्बत के सिवा
राहतें ग्रौर भी हैं वस्लकी राहत के सिवा

सुनाते हुए गिरिजा की ग्रावाज लरज उठी ग्रौर वह पहले से भी ज्यादा जोश के साथ सुनाने लगा। मैंने कनखियों से विमला की ग्रोर देखा। उसका ध्यान नज्म में नही था ग्रौर वह मेरी पत्नी के साथ धीमे-धीमे बातें कर रही थी।

लौट जाती है उधर को भी नजर क्या कीजे
ग्रब भी दिलकश है तेरा हुस्न मगर क्या कीजे

इन पक्तियो तक पहुँचते हुए गिरिजा की ग्रांखें गीली हो रही थी ग्रौर सिर पेंडुलम की तरह दायें-बायें झूल रहा था।

—वाह, वाह !

नज्म खत्म होते-न-होते विमला मेरी पत्नी से कह रही थी—ग्रब तो नही, पर पहले इनके सिर पर ग्रकसर जनून सवार हो जाया करता था। 'मै वह काम नही करूँगा', 'मैं व्यापार नही करूँगा।' कभी कहते, 'बस पांच साल ग्रौर काम करूँगा, इसके बाद तुम जानो, तुम्हारा काम। ग्रपने राम तो वही लौट जायेंगे।' ग्रभी भी कभी-कभी धमकियाँ देने लगते है। मैं मन-ही-मन कहूँ, तुम कहते रहो जो कहना है, देखो तो क्या होता है। इनकी चलती, तो मैं ग्राज भी बच्चो के साथ सडक पर पडी होती। इन्होंने मुझे थोडा परेशान किया है ? कभी मायके ग्रौर कभी ससुराल···

—ग्राप इन्हें रोका नहीं करो, विमलाजी, कुछ भी नही कहा करो। मेरी पत्नी ने फुसफुसाकर कहा।

—मीना, मैंने इन्हे कभी किसी बात मे रोका है ? जायें, जहाँ जाना चाहते है। मैं इन्हे पकड़कर बैठी हूँ ? दो दिन बाहर की रोटी खायें, तो पेट पकडकर बैठ जाते है। साँस फूलने लगता है···

इस बीच गिरिजा को शराब चढ गयी थी। हाथ मे शराब का गिलास टेढ़े कोण पर पकडे कमरे के बीचोबीच खड़ा हो गया था। दोनो पैरे खोले हुए, ग्रागे को थोड़ा झुका हुग्रा, बार-बार सन्तुलन खो रहा था—मैं राजनीति के लिए बना था···मैं क्रान्ति के लिए बना था···! उसने कहा। ग्रौर फिर ग्रपना वाक्य ग्रंग्रेजी मे दोहराने लगा—ग्राइ वाज मीट फॉर द रिवोल्यूशन···

विमला लपककर अपने पति की ओर गयी—बस करो जी, कितनी पी जाओगे? वह बोली—यहाँ रोज यही हाल है! जब कभी कोई पुराना दोस्त चला आये, तो यह बोतल खोलकर बैठ जाते हैं। इन्हें तो कुछ नही होता, पर सँभालना तो मुझे पडता है।

—*विमला, तुम मेरे बच्चों की माँ हो। तुम जानती हो कि मैं क्रान्ति के लिए बना हूँ!*

—हाँ, हाँ, तुम क्रान्ति के लिए बने हो! विमला ने पति की बाँह पकड़कर कहा—आओ, आओ, कुर्सी पर बैठ जाओ।

—मैं क्रान्ति के लिए बना हूँ! तुम मेरे बच्चो की माँ हो, विमला! मैं क्रान्ति के लिए बना हूँ! वह बार-बार कहे जा रहा था और आँसुओं से उसके गाल गीले हो रहे थे।

—यह हमेशा ज्यादा पी जाते है और फिर लोगों को तमाशा दिखाने लगते है! विमला उसे कुर्सी पर बैठने का आग्रह करने लगी, तो वह बिगड उठा और हाथ झटकने लगा।

—नही, मै कही नही बैठूँगा!

—अच्छा, तो यही खड़े रहो! विमला बोली—इन्हें छोड दो जी, यह अड़ जाते है, तो और मुसीबत खड़ी हो जाती है। फिर दीवार के साथ रखी एक कुर्सी गिरिजा के पास उठाकर ले आयी—लो, अब इस पर बैठ जाओ। फिर बड़े दुलार से गिरिजा के बाल सहलाते हुए बोली—तुम्हें अपने क्रान्तिवाले कमरे मे ले चलूँ? वहाँ आराम से पड़े रहना। तुम्हें कोई परेशान नही करेगा।

गिरिजा ने आँखें ऊपर उठायी। बच्चों की तरह मुसकराया और बुद-बुदाने लगा—विमला, तुम मेरे बच्चों की माँ हो, क्रान्ति···

विमला और मैं उसे सहारा देकर कमरे की ओर ले चले, जिससे वह सारा किस्सा शुरू हुआ था। गिरिजा अपना वाक्य दोहराये जा रहा था—विमला, मैं क्रान्ति के लिए बना हूँ!

—हाँ, हाँ, तुम क्रान्ति के लिए बने हो! विमला उसको ढाढ़स बँधाती जा रही थी।

दरवाज़े के पास पहुँचकर जब विमला ने दरवाज़ा खोलने के लिए हाथ बढाया, तो गिरिजा ने बुदबुदाते हुए कहा—विमला, तुमने मुझे कहीं का नही रखा! मैं क्रान्ति के लिए बना था!

—लो, सुनो इनकी बातें ! विमला बिफरकर बोली—मुझे ही दोष दिया जायेगा, यह तो मैं पहले ही जानती थी। पर तुम चलो अन्दर, अपने इनक़लाबी कमरे में ! कर लो जितनी क्रान्ति करना चाहते हो ! और विमला उसे धकेलती हुई अन्दर ले गयी।

गिरिजा को कमरे के अन्दर छोड़कर हम लोग बाहर आ गये। विमला ने बाहर से दरवाजा बन्द कर दिया।

—यहाँ रोज़ यही हाल है ! वह बडबडायी, फिर मुझे अटपटा महसूस करते देखकर मुसकराकर बोली—यह बड़ी जल्दी उत्तेजित हो जाते हैं। पुराना दोस्त मिले, तो अपनी सुध-बुध खो बैठते हैं। घबराने की कोई बात नहीं। आपको यों ही परेशानी हुई।

बन्द दरवाज़े के पीछे ऊँची लड़खड़ाती आवाज़ में गिरिजा किसी इनक़लाबी गीत की पंक्तियाँ गा रहा था।

यह जंग है···जंग-ए आज़ादी··· आज़ादी···

●

दो-एक स्त्रियों के साथ अन्दर बैठी कराह रही थी। गली में दो-एक आदमी थे—एक बड़ी उम्र का बुजुर्ग गले में सफेद पल्ला डाले खड़ा था। दूसरा शक्ल-सूरत से डोम नजर आता था।

शम्भू की अरथी इतनी हल्की थी कि उसे हम तीन आदमी भी उठा सकते थे। चलने से पहले मैंने इधर-उधर देखा। रामदयाल का कहीं नाम-निशान नहीं था। मैं थोड़ी देर तक अरथी को रोके भी रहा कि सम्भव है, वह अभी आता हो, पर लगभग घण्टा-भर बीत गया और मैं खिन्न और निराश हो उठा, हम अरथी को कन्धा दिये कुछ ही कदम चल पाये कि मेरी खिन्नता दूर होने लगी। शम्भू की अरथी को देखकर कोई-कोई राह जाता आदमी रुक जाता और प्रथानुसार झुककर नमस्कार करता। जाने-पहचाने सभी लोग उसे विदा दे रहे थे। बाजार में से जाते हुए दोनों ओर के दुकानदार नतमस्तक हो अपनी-अपनी जगह खड़े हो जाते। कहीं पर कोई आदमी साथ भी हो लेता और कुछ कदम अरथी को कन्धा दे देता। मुझे लगा, जैसे बीसियों आदमी शम्भू के साथ हैं। निःसहायता और अकेलेपन की भावना धीरे-धीरे जाती रही और उन सबके प्रति मुझे गहरी आत्मीयता का भान होने लगा।

तभी सहसा रामदयाल पहुँच गया। पहले मैंने रामदयाल को नहीं देखा। सड़क के मोड़ पर एक ट्रक खड़ा था और ट्रक के पास सड़क पर रामदयाल खड़ा था। मैंने उसे तब देखा, जब वह हाथ झुला-झुलाकर अरथी वालों को रोक रहा था।

"ठहर जाओ! रुक जाओ! रुक जाओ!"

तभी मेरी नज़र ट्रक पर पड़ी, ट्रक बड़ा सजा-धजा था। उस पर जगह-जगह फूलों के गजरे लटक रहे थे और दोनों ओर सफेद चादरें टँगी थीं। "क्या है, रामदयाल?"

पर मैं समझ गया था कि क्या बात है। रामदयाल ही वह ट्रक लाया था। वह चाहता था कि अरथी को ट्रक में सज-धज के साथ ले जाया जाये। मुझे रामदयाल की तत्परता और व्यवहार-कुशलता पर आश्चर्य हुआ। आखिर जो देर से आया, तो उसका कोई कारण ही था। पर उस समय, जब हम लगभग आधा रास्ता तय कर चुके थे, मुझे अरथी को ट्रक में ले जाना कुछ-कुछ अनावश्यक और आडम्बरपूर्ण लगा। पर मन में यह भी आया कि क्या बुरा है, शम्भू इस सत्कार का हकदार भी तो है। उसकी

पत्नी को भी, जो दो पड़ोसियों के साथ-साथ पाँव घसीटती अरथी के पीछे-पीछे चली आयी थी, सन्तोष होगा कि किसी ने उसके पति को मार दिया है।

जब अरथी को ट्रक में रखा गया, तो वह कुछ नहीं बोली। मूक आँसुओं से भीगी आँखों से देखती-भर रही। उसके दोनों बेटे लपककर ट्रक पर चढ़ गये और एक ओर जाकर बैठ गये। देखते-देखते सारा दृश्य बदल गया। ट्रक में एक ऊँची मेज पर शम्भू की देह रख दी गयी, उस पर पार्टी का झण्डा बिछाया गया, फूलों के गजरों से शम्भू की देह को लाद दिया गया। पार्टी के ही दस-बारह स्वयंसेवक ट्रक के चारों ओर दिखायी देने लगे। ट्रक के दायें-बायें जहाँ सफेद चादरें टँगी थीं, फूलों के गजरे लटका दिये गये और पार्टी के झण्डे लगा दिये गये। मौत का समाँ इतना नहीं रहा, जितना किसी समारोह का। अवसाद के स्थान पर जोश हिलोरें लेने लगा। ट्रक रवाना हुआ, तो भीड़ बहुत-कुछ बढ़ गयी थी। पार्टी के बहुत-से सहृदय, जिन्हें रामदयाल बुलाता लाया था, एक-एक करके अरथी को खोजते पहुँच गये थे।

इस अप्रत्याशित सम्मान को देखकर मेरा गला बार-बार रुँधने लगा। बड़ी बात यह थी कि एक साधनहीन, विनम्र स्वयंसेवक को यह सम्मान दिया जा रहा था। लोगों की उमड़ती भीड़ में ट्रक चौराहे के पास पहुँचा तो दो स्वयंसेवक उस पर चढ़ गये और उस पर माइक्रोफोन फिट करने लगे। क्या संगीत होगा? क्या भाषण होंगे? पर मुझे सोचने का मौका दिये बिना ही जैसे रामदयाल माइक्रोफोन के पीछे खड़ा था:

"शहीदों की चिताओं पर लगेंगे हर बरस मेले,
वतन पर मरनेवालों का यही बाकी निशाँ होगा।"

उसने ऊपर हाथ उठाकर शेर पढ़ा और फिर वह भाषण करने लगा, जिसमें स्वर्गीय शम्भूनाथ की जन-सेवा, पार्टी के प्रति उसकी निष्ठा और वफादारी पर प्रकाश डाला गया, और उसके बाद उन विरोधी पार्टियों की कड़ी आलोचना की जाने लगी, विशेषकर उस पार्टी की जो हमारी पार्टी के विरुद्ध नगर-निगम का चुनाव लड़ रही थी और जिसका मतदान दो दिन बाद होने जा रहा था। अन्त में रामदयाल ने शम्भूनाथ की आत्मा की सद्गति के लिए भगवान् से प्रार्थना की और फिर एक बार हाथ उठाकर जोश भरे लहजे में बोला, "हम अपने स्वर्गीय साथी शम्भूनाथ की लाज रखेंगे।

जिस ध्येय के लिए संघर्ष करते हुए उन्होंने अपना जीवन निछावर किया है, हम उसे पूरा करेंगे···!"

भाषण लम्बा नही था, उसमें शम्भू के गुणों का बखान था, पर साथ ही उसमे होनेवाले चुनाव की ओर भी इशारा था, जो मुझे असंगत-सा लगा। लेकिन रामदयाल के दिमाग पर चुनाव छाया हुआ था। उसे अन्य किसी बात की सुध नही थी। जाहिर है, मृतक की आत्मा के लिए शान्ति की प्रार्थना करते समय भी वह चुनावो का जिक्र करने लगा था।

ट्रक फिर चलने लगा। अब इसके बाद ट्रक के पीछे-पीछे 'रामनाम सत्त है!' का उच्चारण बडा अटपटा और बेतुका होता। ज्यों ही ट्रक चला, ट्रक के आगे-आगे एक बैण्डबाजा बजने लगा। मैंने किसी बैण्डबाजे को नही देखा था। रामदयाल बैंडबाजे का भी प्रबन्ध कर आया था। अरथी क्या, मानो शंभूनाथ का जुलूस निकाला जा रहा हो। बैण्डबाजा अवसादपूर्ण धुन ही बजा रहा था लेकिन कुछ-कुछ बाजारू ढंग से। बैंण्डबाजा भी वह था, जो शादियों के समय बारात के आगे-आगे जाता है। उधर हर दूसरे-तीसरे मिनट के बाद कोई-न-कोई स्वयंसेवक माइक्रोफोन के पीछे खडा होकर, हाथ उठाकर दो-तीन नारे लगा देता। तभी रामदयाल की नजर फिर मुझ पर पडी। उसका चेहरा खिल उठा, मानो कह रहा हो—अब तो खुश हो? तुम्हें मुझ पर विश्वास नही था, देखा मेरा बन्दोबस्त? मिनटों मे अरथी का रूप बदल दिया है! एक साधारण व्यक्ति की अरथी से अब यह एक नेता की अरथी बन गयी है। मेरे पास आकर रामदयाल ने मुझे ज़बरदस्ती ट्रक पर चढ़ा दिया।

"तुम ट्रक के पीछे-पीछे कहाँ तक चलते रहोगे! ऊपर चढ़ जाओ। अभी श्मशान-भूमि पहुँचने मे बहुत वक्त लगेगा।"

मैंने पूछा, "क्या ट्रक को घुमा-फिराकर ले जा रहे हो?"

"हाँ तो। जब जुलूस की शक्ल मे ले जायेंगे, तो कुछ इलाकों मे से तो लेकर जाना ही चाहिए। यों सीधे श्मशान-भूमि में ले जाने मे क्या तुक है! साथ में थोड़ा प्रचार भी हो जायेगा।"

शम्भू की देह फूलों से लदी थी। उसे देखकर मेरा दिल भर आया। गली में बांसो की खपच्चियों के बीच बँधा शम्भू मुझे दीन-हीन लगा था, यहाँ वह बड़ा प्रभावशाली लग रहा था। लेकिन उसका चेहरा कुछ-कुछ सूजने

लगा था—कुछ-कुछ नीला और सूजा हुआ, और ठुड्डी कुछ-कुछ टेढ़ी-सी लगने लगी थी और आँखें खुली थीं। एक आँख सिकुड़ने लगी थी जब कि दूसरी थोड़ी ज्यादा खुल गयी थी। तेज धूप उसके चेहरे पर पड़ रही थी। मैंने आगे बढ़कर, साहस बटोरकर, उसकी दोनों आँखें दबाकर बन्द कर दीं।

मैं लौटकर पीछे एक स्टूल पर जा बैठा। ट्रक मन्थर गति से चलता जा रहा था। और सबसे ज्यादा जोश और वलवले का दृश्य उस समय देखने में आया, जब ट्रक पार्टी-उम्मीदवार हरनारायण के घर के सामने रुका। बैण्डबाजा बन्द हो गया। हरनारायण पहले से घर के चबूतरे पर खड़ा था। फूलों के गजरे हाथ में लेकर वह चबूतरे पर से उतरा और ट्रक पर चढ़ गया। पहले तो कुछ देर तक शम्भू के चरणों पर दोनों हाथ रखे नतमस्तक खड़ा रहा, फिर सिर नवाकर शम्भू को नमस्कार किया और अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए पुष्पहार उसके पाँवों के पास रख दिये। वातावरण तालियों की गड़गड़ाहट से गूँज उठा। फिर वह हाथ बाँधे वहीं मिनट-भर के लिए खड़ा रहा और फिर मुड़कर जनता के सामने आ गया और हाथ जोड़कर उसने चारों ओर नमस्कार किया। इसके बाद वह लोगों के आग्रह पर माइक्रोफोन के पीछे आ गया और शम्भूनाथ की सेवाओं की चर्चा करने लगा। बार-बार उसका गला भर आता।

"स्वर्गीय शम्भूनाथ का जीवन हम सबके लिए एक मिसाल है। मरते दम तक उन्होंने देश और जाति की सेवा की। जिस पार्टी में ऐसा आदमी काम कर गया हो, वह कभी मर नहीं सकती! वह सदा जिन्दा रहेगी और जनता की दिन दूनी, रात चौगुनी सेवा करेगी!"

और हरनारायण के भाषण खतम करते ही ट्रक पर लगे माइक से नारे लगने शुरू हो गये—"अपना कीमती वोट किसको दोगे?"

"हरनारायण को!"

"देश का सच्चा सेवक कौन है?"

"हरनारायण!"

एक स्वयंसेवक माइक्रोफोन पर खड़ा यह सवाल पूछ रहा था और सड़क पर ट्रक के साथ-साथ चलनेवाले वालंटियर, जिनके गले महीनों की नारेबाजी के कारण बैठे हुए थे, उत्तर में हाथ उठा-उठाकर नारे लगा रहे थे। मैंने माइक्रोफोन से कुछ दूर हटकर खड़े रामदयाल की ओर देखा।

मुझे लगा, जैसे नारे लगाने के बारे में उसकी अनुमति प्राप्त कर ली गयी हैं, या शायद उसी के सुझाव पर ये नारे लगाये जाने लगे है। फिर तो एक बँधा-बँधाया क्रम चल पड़ा। हर चौक के पास ट्रक खड़ा हो जाता, रामदयाल या पार्टी का कोई सदस्य छोटा-सा भाषण करता, फूलों के दो-चार और गजरे शम्भू के पैरों पर डाल दिये जाते और शम्भू के नाम के साथ-साथ पार्टी और हरनारायण के नाम के नारे भी लगाये जाने लगते।

साढ़े बारह बज रहे थे। जब ट्रक ने लारेंस पुल पार किया, मैंने इतमीनान की साँस ली। यहाँ से एक रास्ता श्मशान-भूमि को जाता था, दूसरा शिवपुरा को। मैं कुछ देर से अटपटा महसूस करने लगा था और चाहता था कि यह जुलूस खत्म हो और शम्भू को ठिकाने लगाया जाये। पर लारेंस पुल पार करके ट्रक श्मशान-भूमि वाली सड़क पर जाने की बजाय शिवपुरा की ओर घूम गया। शिवपुरा चुनाव-क्षेत्र का ही एक मोहल्ला था और उसे विरोधी पार्टी का गढ़ माना जाता था। मेरा दिल धक्-से रह गया। हमारी पार्टी के लोग अभी तक प्रचार करने उस मोहल्ले मे केवल एक ही बार गये थे। यहाँ उन पर पथराव हुआ था और वे दोबारा उस ओर जाने की हिम्मत नही कर पाये थे। रामदयाल की सूझ-बूझ पर मुझे गहरा यकीन था, लेकिन यह कदम मुझे बड़ा गलत और जोखिम-भरा लगा।

पुल पार करते ही बैण्डबाजा बन्द हो गया और नारे गूंजने लगे। नारो के बाद ग्रामोफोन पर एक धुन बजायी जाने लगी और इस तरह बीसियों वालंटियरो, पार्टी-सदस्यो और राह जाते दर्शको की भीड़ के बीच ट्रक शिवपुरा मे दाखिल हुआ। शिवपुरा की छतों पर से लोग जुलूस को देखे जा रहे थे। ट्रक पर हमारी पार्टी के झण्डे-ही-झण्डे लहरा रहे थे और जो स्वयंसेवक तथा सदस्य इस ओर आने की सोचे भी नही सकते थे, वे भी जोश मे नारे लगाते जा रहे थे। ट्रक को सीधा बड़े चौक मे लाकर खड़ा कर दिया गया। ट्रक को ही मंच बनाकर उस पर से भाषण किये जाने लगे। रामदयाल फिर से माइक्रोफोन के पीछे खड़ा था। उसने फिर हाथ उठाकर अपना भाषण आरम्भ किया—

"शहीदों की चिताओं पर लगेंगे हर बरस मेले,
वतन पर मरनेवालों का यही बाकी निशाँ होगा!"

मैंने शम्भू के चेहरे की ओर देखा। उसकी आँखें फिर से खुल गयी थी और पथराई-सी आसमान पर लगी थी। चेहरा पहले से ज्यादा सूजा हुआ

था और धूप के कारण चमडी जगह-जगह से फटने लगी थी। मेरा मन चाहा, फूलो के कुछ-एक गजरे लेकर ही उसका चेहरा ढँक दूं, लेकिन यह सम्भव नही था। जुलूस की शकल मे ले जायी जानेवाली अरथी मे मुँह को उघाडे रखा जाता है कि लोग दर्शन कर सकें।

मैं अभी उसकी आँखें बन्द करके स्टूल पर बैठा ही था कि एक उड़ता हुआ पत्थर कही से आया और ट्रक की दीवार के साथ लगा। फिर एक और पत्थर आया और सीधा उस मेज के पास गिरा, जिस पर शम्भू की लाश रखी थी। पर रामदयाल ने अपनी सूझ नहीं खोयी। उसने फौरन दोनों पत्थर उठा लिये और माइक्रोफोन पर से बोला, "साहिबान, किसी दोस्त ने हमारे स्वर्गीय साथी शम्भूनाथ की अरथी पर पत्थर फेंके हैं। हम इन्हें पत्थर नही फूल मानकर स्वीकार करते हैं और फेंकनेवाले को धन्यवाद देते हैं! ऐसे बरसते फूलों के बीच ही हमारे साथी ने जान दी है।"

बात जम गयी। सनसनी जोश मे बदल गयी। 'पार्टी जिन्दाबाद' के नारे गूँज उठे, 'शम्भूनाथ जिन्दाबाद' के नारे भी और 'हरनारायण जिन्दाबाद' के नारे भी। एक ही नारा बार-बार दोहराया जाने लगा।

"वोट किसको दोगे?"

"हरनारायण को!"

"देश का सच्चा सेवक कौन है?"

"हरनारायण!"

स्वयंसेवकों के चेहरे तमतमा रहे थे। लगता था, उन्होंने अपने नारों से विरोधी पार्टी के छक्के छुडा दिये है। जुलूस किसी चलते सैनिक-शिविर का-सा लगने लगा था, जो सीधा दुश्मन की छावनी में घुस आया था।

इसी तनाव के बीच ट्रक चौक मे से निकलकर फिर से बैण्ड की अवसादपूर्ण धुन के साथ चलता हुआ शिवपुरा की एक-एक गली, एक-एक सडक पर से गुज़रा, विरोधी उम्मीदवार के घर के सामने से भी विरोधियों को ललकारता हुआ गुजरा, फिर जयघोष करता हुआ श्मशान-भूमि की ओर रवाना हुआ।

लगभग दो बजे ट्रक ने फिर लारेन्स पुल पार किया। शिवपुरा पार करते ही ट्रक के आस-पास की भीड छँटने लगी थी। पुल पार करने के बाद तो गिने-चुने वालंटियर ही उसके साथ रह गये। लारेंस पुल पार करने के बाद रामदयाल ने बैण्डबाजे को भी लौटा दिया। बिजलीवाले माइक्रो-

फोन को और उसके साथ जुड़े सभी तारों को भी उतारकर ले गये। पुल पार करने के बाद ट्रक की रफ्तार तेज कर दी गयी। दो-तीन स्वयंसेवक कूदकर ट्रक में चढ़ गये और बाकी पार्टी के चुनाव-दफ्तर की ओर लौट गये, क्योंकि दो रोज़ बाद वोट पड़नेवाले थे। रामदयाल मेरा लिहाज़ करके श्मशान तक चला आया।

श्मशानभूमि में शम्भू की पत्नी अपनी दो गरीब पड़ोसिनों के साथ घण्टों से एक चबूतरे पर बैठी हमारी राह देख रही थी। वह घबड़ा रही थी कि जाने कब अरथी पहुँचेगी और उन्हें जलाने के लिए कुण्ड भी मिल पायेगा या नहीं। हम पहुँचे, तो वह घबराई हुई मेरे पास आयी।

"भाई साहब, जलाने को कुण्ड भी मिलेगा या नहीं? पाँचों के पाँचों कुण्ड भरे हुए हैं, एक भी खाली नहीं है!"

मैंने आसपास देखा, सचमुच कुण्डों में चिताएँ जल रही थी। पर मैंने उसे ढाढ़स बँधाते हुए कहा, "चिन्ता की कोई बात नहीं, रामदयाल हमारे साथ है। सारा प्रबन्ध कर देगा।"

लगभग चार बजे रामदयाल और मैं फिर अपनी मोटर मे बैठकर घर को लौट रहे थे और रामदयाल मोटर मे बैठा-बैठा फिर से ऊँघने लगा था। उसके दोनों गोल-गोल पिलपिले हाथ गोद मे रखे थे और ठुड्डी पहले से भी कहीं ज्यादा छाती पर झुक आयी थी और बार-बार दायें-बायें झूल रही थी। मेरा मन उखड़ा-उखड़ा था। मैं थक गया था।

बूचड़खाने के पास पहुँचकर मोटरकार को फिर से रुक जाना पड़ा। वही, लगभग वैसा ही दृश्य था। केवल बूचड़खाना चालू हो गया था और खट-खट, खटाखट की आवाज़ें आ रही थी। बैरक के बाहर अभी भी बकरियों की भीड़ खड़ी थी और उसमें सुबह ही की तरह कुछ बच्चे झपट-झपटकर दूध दुहने की और मींगनियाँ बटोरने की चेष्टा कर रहे थे।

ट्रैफिक के कारण मोटर रुक जाने से रामदयाल की आँखें खुल गयी, वह इधर-उधर देखने लगा और फिर अपना गोल पिलपिला हाथ मेरे घुटने पर मारकर अपनी घरघराती हँसी के साथ बोला, "अगर अब भी हरनारायण नहीं जीते, तो उसकी किस्मत! हमसे तो जो बन पड़ा, हमने कर दिया। दुश्मन के गढ़ को तोड़ आये, और क्या कर सकते थे! हमारे लिए तो उनके इलाके में घुसना मुश्किल हो रहा था। सब मौके-मौके की बात है...!"

और मोटर चली तो वह थोड़ी ही देर बाद फिर ऊँघने लगा। ●

ज़ख़्म

गाडी चली, तो वह देर तक दरवाज़े मे खड़ा बाहर देखता रहा, कभी दायी ओर इंजन की दिशा में सिर घुमाता, कभी बायी ओर पीछे की तरफ। बूढ़ा आदमी क्या देखे जा रहा है, यह जान पाने के लिए मैंने भी खिड़की मे से सिर बाहर निकाला। मुझे कोई खास बात नज़र नही आयी, सिवा इसके कि स्टेशन पीछे छूट जाने पर रेलगाड़ी साँप की भाँति बल खाती हुई लाइन बदल रही थी। लगा, जैसे डब्बों के नीचे पहिये नही है और गाड़ी पेट के बल लाइन काट रही है। गाड़ी के अगले डब्बे अब एक और लाइन काटकर तीसरी लाइन पर जा रहे थे। मैंने पीछे की ओर देखा…गाड़ी *तीन-तीन बल खा रही थी और उसमें लहरिये पड़ रहे थे। क्या बुड्ढ़ा यही* कुछ देख रहा है? बूढ़े का उत्साह मुझे बड़ा बचकाना और बेमानी-सा लगा। गाडी रफ्तार पकड़ रही थी और लाइन के साथ-साथ खडे पेड़ सर-पट भागने लगे थे, जबकि घाटी के पार खड़े पेड़ लपक-लपककर आगे की ओर आने लगे थे। आस-पास का सारा इलाका गाड़ी की गति के साथ *गतिशील हो उठा था।*

तभी वह दरवाज़ा बन्द करके अपनी सीट पर आ गया। अब वह ज़रूर गाड़ी के बारे में कोई टिप्पणी करेगा। जब से सफ़र शुरू हुआ था, उस वृद्ध के टिप्पण चल रहे थे। बात-बात पर अपने सुझाव, मत, टिप्पण देता आ रहा था।

—अब गाड़ी छूटने पर झटका नहीं लगता, जैसा पहले लगा करता था। उसने बड़ी तृप्ति के भाव से कहा—गाड़ी बड़ी समतल गति से रफ्तार पकड़ती है। फिर अपना दायाँ हाथ उठाकर हवा में तैरता हुआ-सा गाड़ी

की समतल गति का संकेत करने लगा—अब इंजन डीजल से चलते हैं, पहले स्टीम से चला करते थे। स्टीम से चलनेवाले इंजन में झटका लगता था।

मैंने औपचारिकता में सिर हिला दिया।

—स्टीम-इंजनों का ज़माना अब खत्म हो चुका है। वे उन दिनों चलाये गये थे, जब कोयला आम हुआ करता था। अब कोयला महँगा पड़ता है। फिर सहसा उसने नाक-भौं सिकोड़कर कहा—भट्ठी में सारा वक्त कोयला झोंकते रहो, क्यों भला? इससे कपड़े भी गन्दे होते हैं, हाथ भी गन्दे होते हैं। बिजली साफ-सुथरी चीज है। बटन दबाओ और गाड़ी चलने लगती है...

मैंने फिर सिर हिला दिया। पर वह मेरे सिर हिला देने-भर से सन्तुष्ट नहीं हुआ।

—फ्रांसवालों ने एक बहुत बढ़िया तरकीब निकाली है...वे दो-ट्रैक लाइनों की जगह अब एक-ट्रैक लाइन पर गाड़ियाँ चलाने लगे हैं। बिजली की करेंट नीचे पटरी के रास्ते से आती है। वह बड़े उत्साह से सुनाये जा रहा था—गाड़ी के नीचे उन्होंने ट्रांसफॉर्मर लगा दिये हैं। अब होता क्या है, ट्रांसमिशन लाइन तो ए० सी० में रहती है, जबकि ट्रांसफॉर्मर लग जाने से इस्तेमाल डी० सी० होती है। वह सस्ती भी रहती है और काम भी साफ-सुथरा होता है...

बूढ़ा अपना ज्ञान बघार रहा था। इससे अधिक अखरनेवाली बात यह थी कि वह बड़े उत्साह के साथ बोले जा रहा था। मैं ऐसे अनेक लोग देख चुका हूँ, जो बड़े उत्साह से बातें करते हैं, बात-बात पर हँसते हैं, अपनी आशावादिता की नुमाइश करते हैं। यह आदमी कोई अवकाश-प्राप्त इंजीनियर जान पड़ता था। इसे बढ़ावा दिया, तो रेलवे की सारी हिस्टरी सुनायेगा। और डब्बे में हम दो ही मुसाफिर हैं, मुझे ही सब सुनना पड़ेगा। पर उसे बढ़ावा देने की ज़रूरत नहीं थी।

—हमारे एयर-कण्डीशण्ड कोच दुनिया में सबसे बढ़िया हैं...पर अभी भी कहीं-कहीं दोष पाये जाते हैं...धूल-मिट्टी अभी भी अन्दर आ जाती है। फिर एक ही कमरे में चार-चार कॉल-बेल लगाने की क्या ज़रूरत है? एक ही कॉल-बेल से डब्बे के सभी मुसाफिरों का काम चल सकता है। मैंने रेलवे बोर्ड को इस बारे में लिखा है।

बूढा लगभग ७० साल का रहा होगा···अपने अड्डे से टूटा हुआ कोई इंजीनियर, जो अवकाश प्राप्त कर चुकने के बाद भी अपने माहौल से छुटकारा नही पा सकता था, दुबला-सा साँवले रंग का आदमी, ऊपर से नीचे तक पिचका हुआ और सिर पर सफेद किश्तीनुमा टोपी।

मुझे उसके साथ घुल-मिलकर बातें करने की कोई इच्छा नही थी। मैं चुपचाप अपनी सीट पर अलग-अलग पडे रहना चाहता था। मुझे यह पूछने की इच्छा भी नही थी कि वह कौन है, कहाँ जा रहा है। हर राह जाते मुसाफिर से भाईचारा कौन करे!

उसने शायद मेरी बेरुखी को भाँप लिया—आपको इसमे कोई विशेष रुचि नही जान पडती? उसने ठिठककर कहा। मैं उसकी ओर देखता रहा।

—नही···नही, आजकल कितना कुछ हो रहा है, इसमें रुचि तो होनी ही चाहिए।

थोडी देर तक वह चुप रहा···शायद मेरी बेरुखी के कारण। पर मैं जानता था, वह बोलेगा, बोले बिना नहीं रह सकता। बुढापे मे कदम रखने पर सभी हिन्दुस्तानियों के मस्तिष्क मे से सुझाव फूट-फूटकर निकलने लगते हैं। सभी बूढों के पास देश की सभी बीमारियों के नुस्खे मौजूद होते हैं··· गरीबी दूर करने के, भ्रष्टाचार दूर करने के, भारतीयों का चरित्र ऊँचा उठाने के। यह भी कोई ऐसा ही समाज-सेवक जान पड़ता था। ऐसे लोगो से मुझे चिढ है।

—आप दिल्ली से आ रहे हैं। दिल्ली मे आपकी मुलाकात प्रधानमन्त्री से हुई होगी? मैंने व्यंग्य मे कहा।

उसने बडे सहज ढंग से मेरी ओर देखकर कहा—वह बहुत व्यस्त थी। मैंने दरख्वास्त तो दी थी, पर उनसे मुलाकात नही हो पायी।

—व्यस्त तो राष्ट्रपति भी रहे होगे? मैंने फिर व्यंग्य मे कहा। उन्हें क्या काम है? सैनिकों की छाती पर मेडल लगाना, भाषण देना, अस्पतालो का उद्घाटन करना···

उसने सिर झटक दिया। मुझे लगा, राष्ट्रपति की भूमिका से वह सन्तुष्ट नही है। पर पता चला कि वह सचमुच राष्ट्रपति से मिलकर आया था और उन्हें अपने सुझाव भी देकर आया था।

—वास्तव मे दिल्ली मे मैं इनकम-टैक्स बोर्ड के किसी सदस्य से

मिलना चाहता था। इनकम-टैक्स पद्धति में सुधार की बड़ी ज़रूरत है। मैं अपने सुझाव लिखकर दे आया हूँ।

अवकाश जो न कराये कम है, मैंने मन-ही-मन कहा। किसी भाँति डूबने से बच पाओ। जिन्दा बने रहने के लिए इस आदमी ने समाज-सेवा का दामन पकड़ रखा है।

वह उठा और सीट के नीचे से एक छोटा-सा बक्सा निकाल लाया। बक्सा कागज़ों से भरा था। छोटे-छोटे, दो-दो, तीन-तीन पन्नों के लेख अंग्रेज़ी में टाइप किये हुए, वह निकाल-निकालकर और उनके शीर्षक पढ़-पढ़कर अपनी बगल में रख रहा था। पर उसे इनकम-टैक्स सम्बन्धी सुझावों के कागज़ नहीं मिले।

—मैं अपने विचार लिख डालता हूँ। विचारों को लिख डालो, तो अपने ही मन में एक प्रकार की स्पष्टता आ जाती है।

और उसने चार-पाँच लेख चुनकर मेरी ओर बढ़ा दिये। लेख ही थे, छोटे-छोटे, विभिन्न विषयों पर। मैंने शीर्षक पढ़े, तो अब ऊब के बावजूद हँसी आ गयी: 'जनतन्त्रवाद के दोष', 'हिन्दू समाज में विधवा की स्थिति', 'राम की कॉमेडी', 'सीता की ट्रैजिडी', 'एक वार्तालाप—एक वैज्ञानिक, पण्डित तथा भगवान के बीच', 'नंगा सच' आदि। पर फिर मन ऊब से भर उठा, वही बरसों के घिसे-पिटे निष्कर्ष…लड़की को स्वयं अपना वर चुनने का हक होना चाहिए, दहेज की प्रथा नहीं होनी चाहिए, विधवा को पुनर्विवाह की इजाज़त होनी चाहिए। मैंने नज़र उठाकर उसकी ओर देखा। तीन-चार बरस का और खेल है, ज्यादा-से-ज्यादा सात-आठ बरस का, मैंने मन-ही-मन कहा लिखने दो, कितने लेख और लिख लेगा! समाज-सुधार के कितने सुझाव और पेश कर लेगा! मैंने लेख लौटाते हुए उसके चेहरे की ओर देखा। उसकी छोटी-छोटी आँखें निस्तेज थीं। किन्तु उनमें भटकन ही थी। स्थिर, आश्वस्त दृष्टिवाली आँखें, मानो जिन्दगी-भर की बेचैनी से छुटकारा पा गया हो। पर ऐसी आँखें तो किसी घटिया कलाकार के चेहरे पर भी मिल जाती हैं, जो भोंडी रचना रच चुकने के बाद आश्वस्त, मुसकराता हुआ चलता है; और अब अनगिनत साधुओं के चेहरे पर भी, जिन्होंने एक ओढ़नी ओढ़ रखी होती है।

फिर सहसा उस आदमी के प्रति मेरा रुख बदल गया। इस आदमी

को कुरेदो, मैंने मन-ही-मन कहा। जो आदमी सुधार करने निकलते हैं, वे जरूर अन्दर से कहीं टूटे होते हैं। यह आदमी जरूर कहीं से भागकर समाज-सेवा की शरण में आया है। इसे कुरेदो। जो आदमी इस उम्र में समाज को पटरी पर बैठाने निकला है, उसके अन्दर गहरे में कहीं जरूर कोई जख्म होगा। ऐसे लोग दुनिया को तो धोखा देते ही हैं, सबसे बढ़कर अपने को धोखा देते हैं।

वह आदमी मुसकरा रहा था। शान्त, स्थिर मुसकान। जी में आया, उसके चेहरे पर से इस ओढ़ी हुई मुसकान का आवरण नोच डालूँ, ताकि उसका असली चेहरा जीवन से त्रस्त और भयाकुल चेहरा, सामने आ जाये।

—आपका परिवार तो गाँव में ही रहता होगा?

मैंने ठीक सवाल पूछा है। सभी जख्म परिवार में ही लगते हैं। उसका चेहरा साफ बता रहा है कि तीर निशाने पर बैठा है। उसके चेहरे पर छाया-सी दौड़ गयी।

उसने अपने बेटे के बारे में बाद में बताया, पागल बेटी के बारे में सबसे पहले। वह बत्तीस बरस की है, पर चिल्लाती नहीं...चुपचाप बैठी रहती है। छोटा-मोटा अपना काम भी कर लेती है। मैंने उसे अपनी बहन के पास दूसरे गाँव में छोड़ रखा है। मैं घर-खर्च देता हूँ। बेटे की मृत्यु पाँच बरस पहले हुई है...मेरे रिटायर होने के बाद...दिल की गति रुक जाने से। वह बहन से तीन बरस छोटा था। बोला—लेकिन मुझे इसका खेद नहीं है, सभी को देर-सवेर मरना ही है, मर जानेवाले व्यक्ति पर क्या रोना!

अब यह झूठ बोलने लगा है। अपने जख्म को फिर से ढकने लगा है। मुझे फिर से भ्रम में डालने लगा है। साफ-साफ क्यों नहीं कहता कि बेटे के मर जाने और बेटी के पगला जाने के ही कारण मैं समाज-सुधार करने निकला हूँ। मैं भी तो शिष्टतावश सिर हिलाए जा रहा हूँ! यह शिष्टता ही तो हमारी सबसे बड़ी दुश्मन है, हमें यथार्थ से चार आँख नहीं होने देती। मैं चाहता हूँ, यह आदमी अपने जख्म को देखे और कहे कि यह कभी भर नहीं पायेगा, कि मैं अपने को झुठला रहा हूँ। यह जानता भी है, फिर भी इस बात को कबूलता क्यों नहीं?

—क्या आपके बेटे का विवाह हो चुका था?

मैं फिर कुरेदने लगा हूँ। क्षण-भर के लिए उसकी आँखें मेरी ओर ताकती रहीं, फिर कहने लगा—बेटे की पत्नी अब एक स्कूल में पढ़ाती है।

अपने गाँव मे हमने बच्चो के लिए एक स्कूल खोल रखा है, वह उस स्कूल को देखती है। हमारा स्कूल जिले-भर मे सबसे बढ़िया स्कूल माना गया है। इस साल हम स्कूल मे दो कक्षाएँ और बढ़ा देंगे। उसने फिर से वैसे ही अपना हाथ हवा मे तैराया, जैसे स्टीम की तुलना मे बिजली के गुण बताते हुए तैराता रहा था। उसका उत्साह फिर बढने लगा था।

वह आदमी अपने कागज़ समेटकर बक्से में डाल रहा था। मैंने मन-ही-मन कहा, 'आज से पाँच साल बाद इस आदमी के हाथ कागज समेटते समय काँप रहे होंगे।' कह चुकने के बाद मैंने पाया कि मेरे मन पर कोई असर नही हुआ। 'आज से दस बरस बाद यह आदमी दुनिया मे नही होगा, कहीं पर भी नही होगा।' मैंने आँख उठाकर उसकी ओर देखा। इस वाक्य का भी मुझ पर कोई असर नही हुआ। यह जीते-जी भी उतना ही असंगत है, जितना मरने के बाद हो जायेगा। इस बीच उसने चश्मा उतारकर हाथ मे ले लिया था और बड़ी दार्शनिक-सी आवाज़ में कह रहा था—अभी तक जितने भी धर्म हुए है, उनमें नैतिक नियमों का तो दखल था, लेकिन साइंस और अर्थशास्त्र का दखल नही था। अब हमे एक ऐसे धर्म की जरूरत है, जो विज्ञान, अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र पर आधारित हो…

अपने एक-एक वाक्य से वह मेरे सामने नंगा हो रहा था। यह धर्म की बात इसलिए करता है कि इसे स्वयं धर्म की सबसे अधिक जरूरत है। बेटे की मौत को न समझ पाने के ही कारण यह नये धर्म की कल्पना करने लगा है। पर यह मानता क्यो नहीं?

मेरे अन्दर सहसा एक भभूका-सा उठा। मैं नही जानता, क्यों मेरे मन मे उस व्यक्ति के प्रति वैमनस्य का इतना तीखा भाव उठ खडा हुआ था। क्या इसलिए कि वह बूढ़ा हो चला था? क्या इसलिए कि वह मुझे बहुत बड़े भ्रम और पाखड का शिकार लगने लगा था, जो झूठ का लबादा ओढ़े मुस्कराते रहना चाहता है? जो न इन्सान को समझता है, न इन्सान की नियति को?

—आपके इन सुझावो से क्या देश में रामराज्य आ जायेगा?

वह ठिठक गया। बोला—कौन जाने! शायद कुछ भी नही होगा! फिर बड़ी विनम्रता से बोला—क्या सचमुच मेरे विचारो मे कोई सार नहीं है? आप क्या सोचते हैं? हमें क्या करना चाहिए?

मैं चुप रहा। उसकी विनम्रता और गावदोई मे मुझे ग्रहं की बू माने लगी थी।

गाड़ी अब बीहड़ मैदानों के बीच भागती चली जा रही थी। अंधेरा पड़ चुका था और खिड़की में से भांककर भी देखो, तो अन्धकार के पुंज-ही-पुंज नजर आते थे। यह आदमी किसी शहर मे मुझसे मिलता, तो इस वार्तालाप का कोई सन्दर्भ होता। भागती गाड़ी मे तो इन्सान न केवल अपने परिवेश से, बल्कि दीन-दुनिया से ही कट जाता है। केवल भागती गाड़ी के परिप्रेक्ष्य मे ही हम एक-दूसरे को देखे जा रहे थे। किसी चीज का कोई स्थायी अस्तित्व नही रह गया था। अस्तित्व था, तो दौड़ती गाड़ी का, क्षण-प्रतिक्षण भागते समय का। लगता, जसे गाड़ी पृथ्वी की बीहड़ घाटियाँ पार करती जा रही है और शताब्दियाँ पीछे छूटती चली जा रही हैं। और दो मानव-प्रेत एक-दूसरे को घरते जा रहे हैं। जब किसी चीज का कोई अर्थ नही रह गया है, तो यह किस चीज से चिपटा हुआ है? जहाँ सब-कुछ टूट रहा है, वहाँ यह किन टुकड़ो को जोडने की कोशिश कर रहा है?

मेरा मन चाहा, आगे बढ़कर उसकी टोपी सिर पर से उठाकर उछाल दूँ। और मैंने वही किया। मैं अपनी सीट पर से उठा। उस समय वह अपने लेखो की पिटारी खोले उन पर झुका हुआ था। उसने मेरी आहट पाकर सिर ऊपर उठाया—यह देखो, इनकम-टैक्सवाला लेख मिल गया है! और वह अपनी भोंडी विनम्रता मे मुसकराता हुआ मेरी ओर देख रहा था। क्षण-भर के लिए मेरे हाथ ठिठके···मैं भी तो अपने संस्कारों के चंगुल से छटपटाकर ही निकलता हूँ! मैंने अपना हाथ बढाया। उसने अपना लेख उठाकर मेरी ओर बढ़ाया और मैंने लेख की ओर हाथ बढाने की बजाय उसके सिर की ओर, उसकी सफद, चमचमाती किश्ती-टोपी की ओर हाथ बढ़ाया और उसे एक झटके से ऊपर फेंक दिया। टोपी उड़ी, डब्बे की छत से टकरायी, बिजली के पंखे से टकरायी और उड़ते पंछी की भाँति फड़फडाती दायीं ओर की दीवार के साथ जाकर टकरायी, जहाँ खूँटी पर उसकी थर्मस-बोतल लटक रही थी। और वहाँ से फटे चिथडे की भाँति झूलती नीचे आ गिरी।

—यह क्या मजाक है? इसका मतलब?

—यही नही, मैं कुछ और भी करने जा रहा हूँ! और मैंने आगे बढ़कर एक के बाद एक, दो थप्पड़ उसकी चाँद पर जड़ दिये।

वह उठकर खड़ा हो गया—तुम मेरा अपमान कर रहे हो जी ! मैं तुम्हारे बाप की उम्र का हूँ ! तुम हो कौन ? कौन हो तुम ? इसका मतलब ? मैं अभी चेन खींचूंगा ! तुम समझते क्या हो ?

वह दायें हाथ की दीवार की ओर बढ़ा। मैंने सोचा, चेन खीचने जा रहा है, लेकिन चेन खीचने के बजाय वह वास्तव में अपनी टोपी उठाने गया था। उसने नीचे झुककर सामान के बीच गिरी अपनी टोपी उठायी, उसे आस्तीन के साथ पोछा और सिर पर पहन लिया।

वह चुपचाप मेरी ओर देखता रहा। उसकी साँस फूल रही थी। फिर धीरे-धीरे उसके चेहरे की मांसपेशियाँ कुछ-कुछ ढीली पडने लगी। मुझे ऐसा भास हुआ, जैसे उसके होठों पर हल्की-सी मुसकराहट लौट आयी है। वह फिर से पाखण्ड की ओढनी ओढ रहा है—तुमने मेरी परीक्षा ली है क्या ? पर मैं पूरा नही उतरा ! मेरी बातें तुम्हें अखरेंगी, यह मैं समझ सकता हूँ, पर तुमने किस बात का विरोध किया है ? जब मैं तुम्हारी उम्र का था, तो मैंने एक अंग्रेज़ अफसर की टोपी उतारकर फेंक दी थी और मैं तीन साल तक जेल में रहा था। पर वह ज़माना दूसरा था। फिर धीरे-से बोला—मगर वह तो देश का दुश्मन था, मै तो दुश्मन नही हूँ ! मैं किसका दुश्मन हूँ ?

मैंने आगे बढकर सीधा एक झापड़ उसके मुँह पर जड़ दिया। उसका मुँह दोहरा हो गया। उसकी नाक बह आयी, जिससे मेरी सारी हथेली सन गयी। उसकी टोपी फिर नीचे जा गिरी थी। इतने जोर का झापड देने का मेरा कोई इरादा नही था। मेरा अपना दिल दहल गया। मैं भी तो अपने संस्कारों से अपना पिण्ड पूरी तरह से छुड़ा नहीं पाया हूँ। उसके मुँह से चीख-सी निकली।

—सुअर के बच्चे ! वह चिल्लाया। फिर जैसे रोकर बोला—मार डाल···मुझे मार डाल ! मैं अकेला हूँ, बूढा हूँ। मेरे बदन मे ताकत नहीं है। क्या इसीलिए तू मुझे मार डालना चाहता है ?

मैं जितना अधिक अपने व्यवहार पर हैरान हो रहा था, उतना अधिक मुझे बढावा मिल रहा था। मैं उसे ज़लील करना चाहता था। वह आदमी मुझे चिथड़ा-सा लग रहा था, जिसे मैं अपने पैरों तले रौंद डालना चाहता था। मेरे मन में आया, आगे बढकर उसके कपड़े फाड़ दूँ, उन्हें तार-तार कर दूं। मुझे लगा, जैसे वह मेरे साथ चिपटा हुआ है और

मैं उसे अपने जिस्म से अलग नही कर पा रहा हूँ। मैं उसे उखाड़कर अपने से अलग कर देना चाहता था।

मैंने आगे बढकर खिडकी का पल्ला उठा दिया। फिर उसकी ओर लौट आया। वह अपनी सीट मे धँस गया था और मेरी ओर देखे जा रहा था। पर उसने मेरे सामने हाथ नही जोडे, बिलबिलाया-गिड़गिडाया भी नही। मैंने आव देखा न ताव, नीचे झुककर उसके लेखों का बक्सा उठाया और उसे खिडकी से बाहर फेंक दिया। बाहर गिरने के पहले ही बक्से में से लेख उडने लगे थे। दो-एक कागज तो खिडकी मे से उड़ते हुए फिर अन्दर आ गये थे।

फिर मैंने खिडकी का पल्ला गिरा दिया।

पर यह काम करने के बाद सहसा मेरा मन खिन्न हो उठा। उस आदमी की भाँति, उसके छिछले लेखों की भाँति मुझे अपनी यह हरकत भी छिछली और बेहूदा लगी। अचानक ही मुझे गहरे अवसाद का भास हुआ। मुझे यह सारा सफर, इस सफर का सारा कार्यकलाप बेमानी और बेहूदा लगने लगा। पर शायद मैं फिर से कमज़ोर पड रहा था। सचमुच, पुराने संस्कार मरकर भी नही मरते।

मैंने सिगरेट सुलगायी और अपनी सीट पर लौट आया। मेरे अन्दर की खिन्नता को केवल सिगरेट के गहरे कश ही दूर कर सकते थे। वह पहले की ही तरह दुबककर बैठा मुझे घूरे जा रहा था।

लम्बे-लम्बे कश खीचते हुए मुझे गहरी ऊब ने जकड लिया। कब यह सफर खत्म होगा ? मैं यहाँ क्यों बैठा हूँ ? मेरी बेचैनी का, मेरे फटते सीने का, मेरी असह्य वेदना का कोई इलाज नहीं था। बक्सा फेंकने की बजाय मुझे स्वयं गाड़ी में से कूद जाना चाहिए था। ऐसे सफर का यही अन्त हो सकता है। मुझे पहले वह आदमी असंगत-सा लग रहा था, अब मैं स्वयं अपने को असंगत महसूस करने लगा था। मैं उसके ज़ख्म कुरेदना चाहता था, जबकि मेरा अपना कलेजा ज़ख्मो से छलनी हो रहा था। मेरा मन हुआ, उठकर डब्बे की दीवार से अपना सिर फोड लूँ। उस बूढे से अभी भी मुझे घृणा थी, पर मेरा ध्यान मेरी अपनी असह्य स्थिति पर लौट आया था···
मैं क्या हूँ ? मैं यहाँ क्योंकर हूँ ?

वह आदमी सीधा होकर बैठ गया था। वह बोला कुछ नही, केवल शंकित-सी आँखों से मेरी ओर देखता रहा, अच्छा ही हुआ, जो वह कुछ नहीं

तस्वीर

उसके मरने के तेरह दिन बाद घर-बाहर सब सुनसान हो गये। एकाध सम्बन्धी कभी आ जाता, तो आ जाता। मैं सुबह से शाम तक अपने ससुर के पीछे-पीछे घिसटने लगी, कभी किसी वकील के दफ्तर में, कभी बीमा कम्पनी के दफ्तर मे। उसके मरने के बाद मैं और भी त्रस्त हो उठी थी, निराश्रय और त्रस्त। छोटे-से कद का मेरा ससुर, दुबला-पतला, घुटनो तक लम्बा कोट पहने और सिर पर बड़ा-सा पग्गड़ रखे आगे-आगे चल रहा होता, बगल में कागजों की फाइल दबाये, और मैं पीछे-पीछे घिसटती जाती। मुझे नही मालूम था कि मेरे दोनो बच्चे कहाँ पर है, उनकी कोई सुध लेता है या नही! मेरा ससुर बड़ी रुखाई से बोलता था। दिन मे दो-एक बार तो बडी कड़ुवी बातें कह देता। उसे विश्वास था कि मैं ही उसके बेटे की मौत का कारण बनी हूँ। वह कभी घर का सामान बेचने की बात करता, कभी कहता कि वह हमारे छोटे-से मकान को किराये पर चढा देगा और मुझे और मेरे दो बच्चों को अपने घर पर ले जायेगा। कभी मेरे माँ-बाप को अपाहिज कहता। एक बूढ़ी बहरी माँ, गठिया की मारी, जो सोग मनाने आयी और खाट पर पड़ रही, इस पर न भाई न बहन।

"मैं इस बूढ़ी उम्र में कोई काम-धन्धा नही कर सकता कि तुम्हें और तुम्हारे बच्चों को खिलाऊँ।" वह बोलता रहता और मैं सिर झुकाये काँपती हुई उसकी बातें सुनती रहती। वह जो कुछ कहता, मैं मन-ही-मन उसका वाक्य दोहरा देती। वह बड़बड़ाकर कहता "तुम्हारे घर में न भाई है न बाप, सारा बोझ बुढ़ापे मे मुझे उठाना पड़ रहा है।" तो मैं मन-ही-मन दोहरा देती, 'न भाई है, न बाप, सारा बोझ बुढापे में इन्हें

सहना पड रहा है।' वह अपने बेटे को याद करके मुझे कोसता, "तुम पढ़-लिखकर भी बेवकूफ हो। तुम कुछ करना-धरना जानती होती, तो वह इस वक्त जीता होता।" और मैं गुम्बद की आवाज की तरह उसके शब्द दोहरा देती, 'मैं कुछ करना-धरना जानती, तो इस वक्त वह जीता होता।'

मेरा मन जड हो चुका था। सब बातें सुनती, पर उनका मुझ पर केवल एक ही असर होता, मुझपर पहले से भी अधिक भय छा जाता। शाम को घर लौटती, तो बेटा और बेटी सहमे हुए कभी दहलीज पर आँखें फाड़-फाडकर मेरी ओर देखते नज़र आते, कभी एक-दूसरे से लिपटकर सो रहे होते। और बहरी माँ घुटने पकड़े खाट पर बैठी होती। मेरे अवचेतन में नयी-नयी बातें अंकित होने लगी थी—मकानो के किराये, बिकाऊ कुर्सियाँ-मेज, पुराना रेफ्रिजरेटर, बीमे के सात हज़ार रुपये, तेज़ रोशनीवाले बिजली के बल्बों के स्थान पर मद्धम रोशनी के बल्ब, किसी बालक के उतरे हुए कपडे, जो जाने कौन मेरे बच्चो के लिए दे गया था।...

उसके आँखें बन्द करने की देर थी कि सारा दृश्य बदल गया था। मुझे लगा, जैसे घर के किवाड़ और खिडकियाँ सब टूट गये हैं, और हू-हू करता अन्धड घर मे चक्कर लगाने लगा है। मुझे लगता, जैसे मेरी आँखों के सामने कोई नाटक खेला जा रहा है। एक दृश्य वह था, जब वह जीता था, दूसरा दृश्य, जब वह मर चुका था। एक दृश्य के बाद जब दूसरा दृश्य बदला, तो पहला दृश्य झूठा पड गया, सपने की तरह झूठा। पर असंगत शायद कुछ भी नही था। दोनो दृश्य अन्दर से कहीं जुडे हुए थे।

धीरे-धीरे मैं अपनी नयी स्थिति को पहचानने लगी। मेरी ज़िन्दगी की बागडोर, जो पहले मेरे पति के हाथ में थी, अब मेरे ससुर के हाथ मे आ गयी थी। जिस भाँति मेरा पति मुझे हांका करता था, अब मेरा ससुर मुझे हाँकने लगा था। जिस भाँति उसके जीते-जी मैं उसका मुँह ताका करती थी, उसके चले जाने के बाद अपने ससुर का मुँह ताकने लगी थी। अपने बाप की तरह वह भी कड़वा बोला करता था। एक ही छत के नीचे रहते हुए भी एक-दूसरे से कोसों दूर थे और दिन-प्रतिदिन दूर होते जा रहे थे। मैं नही जानती, उसने मुझे कभी प्रेम किया था या नही। प्रेम शब्द ही इतना बेतुका और निरर्थक जान पड़ता है।

ब्याह के बाद गृहस्थी की चक्की चलने लगी थी और मैं उसमें धीरे-धीरे पिसने लगी थी। वह सभी काम खुद किया करता था। सच पूछो, तो

के दो बच्चे भी, जो घर में थे, मुझसे बिना पूछे ही माने थे। वह घर में ज्यादा देर तक निचला बैठ ही नहीं सकता था। काम पर से घर लौटता, तो थोड़ी ही देर बाद थैला उठाकर बाहर निकल जाता। कभी उसका मन माने, तो बता देता कि कहाँ जा रहा है, कब लौटेगा, वरना बाहर निकलने पर केवल उसकी पीठ ही नजर आती। कभी साइकिल उठाकर किसी ओर निकल जाता, कभी किसी ओर। मैं बैठी अनुमान लगाती रहती, थैला लेकर गये हैं, कुछ सौदा-सुल्फ लेने गये होंगे, जल्दी लौट आयेंगे। साइकिल पर गये हैं, किसी से मिलने गये होंगे, देर से लौटेंगे।

सुबह काम पर जाने से पहले मुझे वह कोई काम सौंपकर जाता, तो मैं दिन-भर घबरायी रहती कि मुझसे ठीक ढंग से हो पायेगा, या नहीं! मामूली-सा भी काम होता, तो मुझे डर लगा रहता कि कहीं मुझसे भूल न हो जाये, और कभी-कभी सचमुच भूल हो जाया करती थी। भूल हो जाने पर वह मुझे फटकार देता, या कभी व्यंग्य से हँसकर कहता, 'कोई बात नहीं, आगे से मैं खुद कर लूँगा।' कभी चुप बन जाता, न हूँ, न हाँ, गुमसुम दूसरी ओर चला जाता। उसे गुमसुम देखकर मैं और ज्यादा घबरा जाती। मैं जानती थी कि आज तो चुप रहेगा, पर दस दिन बाद, इसी घटना को याद करके विष में बुझा कोई वाक्य कहेगा, जो मेरा कलेजा साल देगा।

तभी, शादी के सात-आठ साल बाद ही मुझे कभी-कभी सिर में दर्द उठने लगा था, और मैं माथे पर पट्टी बाँधकर खाट पर पड़ी रहने लगी थी। पर जब उसके बाहर से लौटने का समय होता, तो मैं माथे पर से पट्टी खोल देती। हाथ-मुँह धो, बन-सँवरकर बैठ जाती, क्योंकि उसे करीना पसन्द था। मेरा फूहड़ बने घर में बैठना उसे बुरा लगता था। वह घर लौटते ही पूछता—'राशन कार्ड बनवा लिया था?' या 'टपकता नल ठीक करवा लिया था?' तो ठीक करवा लेने के बावजूद मेरे हाथ-पाँव फूलने लगते थे।

वह ऐसा था, या मैं ऐसी हो गयी थी। पर, उसके घर लौटने पर दोनों बच्चे ऊधम मचाने लगते और एक साथ उसकी गोद में बैठने के लिए मचलने लगते। कभी बेटा अपने पिता से मेरी शिकायत करने लगता—'पापा, आज माँ ने मुझे थप्पड़ मारा था। मुझसे दूध गिर गया, तो माँ ने मुझे थप्पड़ मारा।' और कहते हुए उछलकर उसकी गोद में चढ़ बैठता। तब मेरे मन में गहरी टीस उठती। मुझे लगता कि बच्चों को

भी उसने अपने हाथों में कर लिया है। बच्चे भी लपक-लपककर उसी से मिलते हैं। पर बाद में मैं अपने को कोसती, बुरा-भला कहती। मेरे हक में न सही, बच्चों के हक में तो अच्छा है। बच्चे तो अपने पिता से प्रेम करते हैं। यदि उसके घर लौटने पर उससे डरकर भागते, तो क्या अच्छा होता?

पर उसके आँखें बन्द करते ही यह कहानी भी खत्म हो गयी। फिर तो दूसरे ही बवंडर चलने लगे, जिनमें मेरी सुध-बुध ही जाती रही। पर धीरे-धीरे मैं सँभलने लगी थी, अपनी स्थिति को पहचानने लगी थी।

एक दिन मेरे ससुर उसका एक बड़ा-सा चित्र लेकर आये और उसे कमरे की दीवार पर टाँग दिया। बड़े आकार की तस्वीर थी, और वह उसमें मुस्करा रहा था। उसे देखते ही मेरा सारा शरीर झनझना उठा और सिर से पाँव तक कँपकँपी हुई। मेरे दिल में तूफान उठने लगा और मैं बेकाबू-सा महसूस करने लगी। दोनों बच्चे अपने बाप का चेहरा पहचानते ही लपककर तस्वीर के नीचे जाकर खड़े हो गये। मैं सोचती थी, वे रोने-बिलखने लगेंगे, पर वे मुझे बड़े खुश नजर आये। मुझे लगा, जैसे वह घर में लौट आया है और उसके आ जाने से घर फिर से भर गया है।

तस्वीर टाँगने के बाद मेरे ससुर ने रंगदार रेशमी धागों का बना एक हार तस्वीर के आर-पार टाँग दिया। हार टाँगते ही मुझे लगा जैसे वह फिर दूर चला गया है, और दूर से ही मुझे देख-देखकर मुस्करा रहा है। और घर फिर से खाली हो गया है। उस दिन मेरे दिल की कैफियत अजीब-सी रही। बरसों पुरानी कोई भावना, अतीत की किसी कन्दरा में डूबी-सोयी फिर से कुलबुलाने लगी थी। तस्वीर टाँगने के थोड़ी देर बाद ससुर चले गये। वे कुछ चीजें बेचने के बारे में कह रहे थे, पर मैं ध्यान से सुन नहीं पायी। मैं तस्वीर के निकट ही दिन-भर डोलती रही। तरह-तरह की भावनाएँ, परस्पर विरोधी भावनाएँ, मेरा दिल मथती रहीं।

उस रात बच्चे सो गये, तो मैं देर तक करवटें लेती रही। जब ब्याह कर आयी थी, तो मेरा पति मुझे लगा अच्छा था, गोरा-गोरा नाजुक-सा। वह क्षण-भर को ही भाग रहा होगा। वह हमारे कमरे में दहेज का सामान तरतीब से रख रहा था और सामान रखते हुए उसने मेरी ओर घूमकर पहली बार देखा था और मुस्करा दिया था। उसके चेहरे पर वैसी ही मुस्कान थी, जैसी इस तस्वीर में उसके होंठों पर खेल रही थी। तभी वह मुझे अच्छा

लगा था, गोरा-गोरा, नाज़ुक-सा। एकाध बार फिर भी ऐसी ही भावना मेरे अन्दर जगी थी, जब ऐसी ही मुस्कान उसके चेहरे पर खेल रही होती।

एक बार चाँदनी रात मे छत पर लेटे-लेटे मेरे ऊपर झुके हुए उसने कुछ कहा था और मुस्करा दिया था। तब भी वह मुझे प्यारा और अपना लगा था। फिर न जाने वे क्षण कहाँ डूब गये थे। गृहस्थी की चक्की चलने लगी थी और हम एक-दूसरे से दूर होने लगे थे। क्या क्षण-भर की यह प्रतिक्रिया ही उसके प्रति मेरा प्रेम-भाव था ? अन्त तक पहुँचते-पहुँचते मैं उससे डरने, घृणा करने लगी थी। क्या इसी कारण उसकी तस्वीर देखकर मैं भावावेश में खड़ी की खड़ी रह गयी ? पहले दिन का मेरा आकर्षण क्या मरा नहीं था ? क्या कभी भी कोई भाव मरता नहीं है—केवल दब जाता है, और वक्त पाते ही फिर कुलबुलाने लगता है ? क्या किसी के मर जाने के बाद भी वह प्यार जाग सकता है ? क्या इसलिए भी कि मरने के बाद सभी व्यक्ति निर्दोष लगने लगते हैं ? मौत की विकराल शक्ति के सामने प्रत्येक मनुष्य कितना निरीह, निर्दोष और निःसहाय लगने लगता है ! मैं कुछ नहीं जानती, कुछ नहीं समझती, पर तस्वीर के लग जाने के बाद वह मुझे अच्छा लगने लगा था। वह था, तो घर था, परिवार था, गृहस्थी थी। अब वह नहीं है, तो कुछ भी नहीं है। बच्चों के रहते भी घर भाँय-भाँय करता है। क्या आश्रय का, अपनी जरूरत का ही नाम प्रेम है ?

तस्वीर लग जाने से घर का वातावरण कुछ-कुछ हल्का होने लगा। विशेषकर बच्चों के लिए। आते-जाते वे तस्वीर को देखते, खड़े-खड़े उससे बातें करने लगते। उसे अपनी दिनचर्या सुनाते। उसके सामने नये-नये खेल खेलते।

एक दिन दोपहर को मैं थकी-माँदी बाहर से लौटी, तो छोटा नलिन तस्वीर के सामने खड़ा मेरी शिकायत कर रहा था—

"पापा, आज माँ ने हमें रोटी नहीं दी। मुझे इतनी भूख लग रही है। तुम माँ को डाँटना। माँ गन्दी है। पापा तुम अच्छे हो।"

मैं भागकर बेटे से लिपट गयी। मैंने उसके चेहरे की ओर देखा, तो उसकी आँखें जाने कैसी हो रही थीं, भूख के कारण बड़ी-बड़ी, फैली-फैली-सी, और उद्भ्रान्त-सी। उसने मेरी ओर आँखें फेरी। मुझे लगा, जैसे वह मुझे न देखकर मेरी तस्वीर को देख रहा है।

मैंने उसे बाँहों में लेकर चूम लिया, तो वह बोला—

"तुम मुझे चूम रही हो, ताकि मैं पापा से तुम्हारी शिकायत नहीं करूँ। पर तुम गन्दी हो, पापा अच्छे हैं।"

"नहीं-नहीं, तुम शिकायत करो। जितना मन में आये, शिकायत करो। मैं सचमुच गन्दी हूँ।"

पर इसी पर बस नहीं हुआ। उस रोज मेरे ससुर ने घर का पुराना रेफ्रिजरेटर बेचने का फैसला कर लिया था और एक आदमी से बात भी पक्की कर ली थी। रेफ्रिजरेटर के बाद घर का छोटा कालीन, दो दरियाँ, मेज़ और कुर्सियाँ बेचने का भी उसका इरादा था। उसके बाद घर किराये पर चढ़ा देने और हमें इस घर से ले जाकर अपनी दो कोठरियों में बसा देने की बात कर रहा था।

मैं उस रात लेटी, तो मेरे मन में अचानक ही गहरी टीस उठी। वह मरकर भी अच्छा है, मैं दर-दर की ठोकरें खाकर भी बुरी हूँ। उसने जीते-जी बच्चों को ऐसा अपने हाथ में किया था कि मरने के बाद भी वे उसके साथ है, उसी को अच्छा समझते हैं। उसके चले जाने के बाद भी बच्चे उसके साथ मेरी तुलना करते हैं। यह विचार अचानक ही मेरे मन में उठा और मैं अन्दर-ही-अन्दर छटपटाने लगी। मेरे मन पर फिर से बादल-सा घिरने लगा। मैं फिर से किसी गहरे कूप में गिरने लगी।

उस दिन के बाद मैं जब भी नलिन को अपने पिता की तस्वीर के सामने खड़ा पाती, तो मेरे दिल में डंक-सा चुभ जाता। वह ज़रूर उसके सामने मेरी बुराई कर रहा होगा। घर में रहते सारा वक्त मेरे कान नलिन और उसकी बहन की ओर लगे रहते, कि वे अपने बाप से क्या कहते हैं, मेरी क्या शिकायत करते हैं! भाई-बहन आपस में खुस-फुस करते, तो मेरे कान खड़े हो जाते कि वे एक-दूसरे से मेरे बारे में क्या कह रहे हैं!

दूसरे दिन सुबह-सुबह ही एक सूट-बूट वाला आदमी रेफ्रिजरेटर लेने पहुँच गया। घर के बाहर एक ट्रक खड़ा था और वह आदमी दो-तीन मज़-दूरों को लिये घर के अन्दर आ पहुँचा। मैं उसी वक्त रेफ्रिजरेटर को धो-पोंछकर बैठी थी। मज़दूर मोटे-मोटे रस्सों के साथ रेफ्रिजरेटर को बाँधने लगे, तो दहलीज़ पर खड़ा नलिन सहसा तड़प उठा। रेफ्रिजरेटर के बिक जाने का मुझे भी खेद था, लेकिन ससुर के निर्णय के सामने मैं कुछ भी

नही कह सकती थी।

जब मजदूरों ने रेफ्रिजरेटर को रस्से लपेटकर उठाया, ऐन उसी वक्त नलिन दोनों हाथ फैलाये दरवाज़े के बीचोबीच खड़ा हो गया—

"यह पापा का है।"

मजदूर ठिठक गये और मुस्करा दिये।

मैंने घूमकर देखा। नलिन का चेहरा तमतमा रहा था।

"यह फ्रिज पापा का है।" वह फिर चिल्लाया।

पर जब मज़दूर फ्रिज को ले जाने को हुए, तो नलिन अपने पिता की तस्वीर की ओर भागकर आ गया और चिल्लाकर बोला—"देखो पापा, माँ ने तुम्हारा फ्रिज किसी को दे दिया है। देखो, देखो, ये उसे ले जा रहे हैं।" और फिर लपककर आगे आ गया और दरवाज़े के बीच फिर से अपनी दोनों बाँहें फैलाकर रास्ता रोकने लगा।

"इसे मैं नहीं जाने दूँगा, यह पापा का है।" वह पागलों की तरह चिल्लाया।

मेरे अन्दर जैसे तूफान घुमडने लगा। एक ओर लाचारगी, दूसरी ओर दिल को सालनेवाला क्षोभ। फ्रिज न बेचूं, तो घर मे पैसेकहाँ से आयेंगे! मेरी तौफीक ही क्या है? मैं स्वयं बेसुध हुई जा रही थी। इस पर मैं भी चिल्ला उठी—

"हट जाओ नलिन, क्या कर रहे हो? ले जाने दो इन्हें।"

"नही, यह तुम्हारा नही है, यह पापा का है, मैं नही ले जाने दूंगा।"

"हटते हो या नही?" मैं जोर से चीखी और आगे बढकर उसे बाँह से पकड़कर खींच लिया।

नलिन का बस चलता, तो मेरा हाथ काट लेता। गुस्से से उसका चेहरा लाल हो रहा था और आँखें जाने कैसी हो रही थी।

"तुम गन्दी हो, माँ, तुम गन्दी हो, तुमने पापा का फ्रिज दे दिया है।"

उसके बाद वह हाथ-पैर पटकने लगा, मेरे कपड़े खीचने लगा, मुझे धक्के देने लगा।

"चुप रह नलिन, बस चुप हो जा। छोड़ दे मुझे।"

पर वह पागलों की तरह चीखे जा रहा था और मुझे दीवार के साथ पीछे धकेले जा रहा था।

"तुम गन्दी हो, गन्दी हो, पापा अच्छे थे।"

मैंने दोनों हाथों से उसके हाथ पकड़ लिये और उसे धकेलती हुई पिछले कमरे में ले गयी।

"आ तो मैं तुझे बताऊँ कि मैं गन्दी हूँ या अच्छी हूँ।"

तभी कमरा लांघते हुए, तस्वीर के सामने से गुजरते हुए वह चिल्लाया—

"देखो पापा, माँ मुझे पीट रही है, माँ ने तुम्हारा फ्रिज किसी को दे दिया है।"

सुनते ही मेरी टाँगों में जैसे पानी भर गया। मेरे हाथों में से सारी ताकत जाती रही। फिर भी मैंने नलिन को छोड़ा नहीं, और उसे घसीटकर पिछले कमरे मे ले गयी और नलिन को उसकी खाट पर पटककर बोली—

"बैठ इधर, खबरदार जो बाहर निकला।"

और फिर स्वयं बाहर आकर दरवाज़े पर साँकल चढा दी।

बैठक में लौटते ही मेरा अंग-अंग शिथिल पड़ गया। दीवार के साथ लगकर मैं बेसुध और निढाल-सी खड़ी रह गयी।

"अब क्या होगा?" मैं बुदबुदायी, "हे भगवान, अब क्या होगा?"

सारा वक्त कमला डरी-डरी-सी पिछले दरवाज़े मे खडी रही थी। कमला ग्यारह बरस की हो चली थी। उन दिनो वह भी अक्सर अविश्वास की दृष्टि से ही मुझे देखा करती थी। उधर ससुर की फटकार, इधर बच्चों की। वह चला गया, तो इसमें मेरा क्या दोष है! उसकी जगह मैं चली जाती, तो अच्छा था। मुझे लगा, जैसे कमला मेरी ओर डर और उपेक्षा से देखे जा रही है। उसकी आँखो में मुझे धृष्टता का भास मिला। जैसे वह कुछ कहना चाहती हो, पर कह नही पा रही हो। फिर वह घूमकर रसोई-घर मे चली गयी और मेरी ओर पीठ किये गुम-सुम खडी हो गयी। उसके जीते-जी भी कई बार ऐसे सीन हुआ करते थे। वह बड़ी रुखाई से मुझ पर बरसने लगता था। तब भी बच्चे सहमकर अलग हो जाया करते थे। तब भी मन-ही-मन वे शायद मुझे ही कोसा करते थे।

अचानक ही मेरी आँख तस्वीर की ओर उठ गयी। मुझे धक्का-सा लगा। वह तस्वीर में उसी तरह मुस्करा रहा था, जैसे जिन्दगी में मेरे किसी काम से असन्तुष्ट होकर मुस्कराया करता था। तीखी, व्यग्य-भरी मुस्कान, मेरी त्रुटियो पर हँसती हुई। यह क्यो लौट आया है? यह क्या चाहता है? यह मुझे मेरे हाल पर क्यों नही छोड़ देता? वह मरकर भी

बलवान है। मैं जिन्दा भी मरी हुई के बराबर हूँ। वह ज्यों-का-त्यों व्यंग्य-भरी नजर से मेरी स्थिति पर मुस्कराये जा रहा है, बच्चों को बढ़ावा दे रहा है, हमारी एक-एक बात सुनता रहता है···

तभी मैंने निश्चय किया कि मैं तस्वीर को वहाँ से हटा दूँगी। तस्वीर घर में नहीं होगी, तो घर में चैन होगा। बच्चे रोयेंगे, चिल्लायेंगे, मुझे कोसेंगे, पर उसके सामने शिकायत तो नहीं करेंगे, रो-धोकर चुप हो जायेंगे। पर उसी समय मुझे अपने ससुर की याद आयी और मेरा तन-बदन काँप गया। उसकी तस्वीर हटा देने पर न जाने ससुर के मुँह से क्या सुनने को मिलेगा! मेरा दिल धक्-धक् करने लगा। पर मैं उठी और धीरे-धीरे चलती हुई तस्वीरवाले कमरे में आ गयी। दोनों बच्चे चुपचाप सो रहे थे।

मैं कमरे में आयी, पर मैंने नजर उठाकर उसके चेहरे की ओर नहीं देखा। मैं उसे वहाँ से हटाने के बारे में सोच ही रही थी, जब बाहर आँगन में आहट हुई। मैंने घूमकर देखा, ससुर आ रहे थे। मेरा दिल बैठ गया। क्या इन्हें मालूम हो गया था कि मैं तस्वीर हटाने जा रही हूँ। वे छड़ी उठाये, पैर पटपटाते रोज प्रातः पहुँच जाया करते थे और फिर मैं उनके पीछे-पीछे गली-गली की खाक छानती फिरती थी।

"कल सुबह एक फर्नीचरवाला आयेगा।" वे बैठते हुए बोले, "कह गया था, दस बजे आऊँगा। मेज-कुर्सियाँ और बड़ी अल्मारी उसे दे देना।"

न जाने मुझे क्या हुआ, मैं भभक उठी—"नहीं जी, मैं कुछ नहीं बेचूँगी।" मेरे मुँह से छूटते ही निकल गया। ये शब्द कहते ही मैं इतनी अधिक घबरा गयी कि मैंने पास पड़ी कुर्सी को सहारे के लिए पकड़ लिया।

ससुर अवाक् खड़े सुन रहे थे। वे हैरान थे कि मैं उनके सामने मुँह खोलने का कैसे साहस कर पायी हूँ! मुझे भास हुआ कि अब वे ऊँचा बोलेंगे, और अन्त.प्रेरणावश मैंने कुर्सी को और भी ज्यादा कसकर पकड लिया। पर उनकी आवाज धीमी थी—

"तो बीबी, खायेगी कहाँ से? मेरे पास तुम्हें पालने के लिए पैसे नहीं हैं। और तेरे मायकेवाले जैसे जीते, वैसे मरे हुए।"

मैं चुप, बुत की बुत बनी खड़ी रही।

"दस बजे वह आयेगा। मेज-कुर्सियाँ और अलमारी उसे दे देना।" उन्होंने फिर कहा।

"जी नहीं, मैं नहीं दूँगी।"

इस पर वे बौखला उठे—"तू कौन है फैसले करनेवाली ?" उन्होंने चिल्लाकर कहा, "तेरे पास है क्या ? चुपचाप सामान बाँधो और चलो मेरे साथ।"

मैं सिर से पाँव तक काँप उठी, पर मैं कुर्सी को कसकर पकड़े रही।

"जी नही, मैं यही पर रहूँगी। मैं यही बच्चों को लेकर रहूँगी। कोई छोटा-मोटा काम ढूँढ लूँगी।"

मैं जानती थी कि अब वे जली-कटी कहेंगे, कोसेंगे, चिल्लायेंगे, पर उनकी आवाज़ फिर धीमी पड गयी—

"मेरे बेटे ने मेरी सुनी होती, तो तेरे साथ ब्याह ही नही करता। कंगालो की लडकी ले आया…"

फिर वे देर तक बोलते रहे। दोनो बच्चे उठकर दहलीज़ पर आ गये थे और सहमे-से खडे हमारा वार्तालाप सुन रहे थे। फिर मेरे ससुर फुकारते, छडी पटपटाते दरवाज़े की ओर गये और घूमकर बोले—

"दस बजे फर्नीचरवाला आयेगा, उसे मेज़-कुर्सियाँ दे देना ! मैं उससे बात कर आया हूँ।"

मैं चुप, ज्यो-की-त्यो खडी रही।

वे दरवाज़े मे ठिठके खडे रहे। उनका बस चलता, तो छडी से मेरी पीठ धुन देते। जाने से पहले उन्होंने फिर एक बार कहा—

"अगर नही दिया, तो मुझ जैसा बुरा कोई नही होगा। मुझसे किसी प्रकार की मदद की उम्मीद नही रखना।" कहकर वे बाहर निकल गये।

यह सब क्यो हो गया, कैसे हो गया ? किस आवेश में मेरे मुँह से यह बात निकल गयी थी ? मैंने कभी सपने मे भी नही सोचा था कि यह काण्ड होगा। मैं तो तस्वीर उतारने आयी थी, पर यह सब कैसे हो गया ?

मैं रसोईघर मे चली *गयी। देर तक किचन में मैं कभी एक काम को हाथ* मे लेती कभी दूसरे को, पर हाथ किसी काम पर टिक ही नही पाते थे। कभी अपनी धृष्टता पर अचम्भा होता, कभी सिर से पाँव तक लरज-लरज जाती। कभी एक अनूठी पुलक-सी सारे जिस्म में दौड़ जाती।

तभी मुझे बच्चो के चहकने की आवाज़ आयी। दोनो हँस रहे थे, बतिया रहे थे। खुसफुस कर रहे थे। फिर मैंने सुना, नलिन अपने पिता की तस्वीर को सम्बोधन कर रहा था—

"पापा, माँ कुर्सियाँ-मेज़ नहीं बेचेगी। माँ ने कह दिया है। पापा, तुम्हारी चीज़ें घर में ही रहेंगी। पापा, दादाजी ने माँ को बहुत डाँटा, बहुत डाँटा, मगर माँ नही मानी। वह डरी भी नही। माँ ने उनसे कह दिया, मै नहीं बेचूँगी, कभी नही बेचूँगी। और पापा, हम यही पर रहेगे। और पापा, तुम माँ को पैसे देकर भी नही गये, वह इतनी गरीब है..."

मेरा रोम-रोम पुलक उठा। पहले तो मैं कान लगाये नलिन की बातें सुनती रही, फिर मुझसे नहीं रहा गया। मैं रसोईघर से दौड़ी आयी और नलिन को छाती से लगा लिया। मेरी छाती मे कोई हथौड़े मार रहा था और मैं बेसुध हुई जा रही थी। दोनों बच्चो को बाँहो में भरकर जाने कितनी देर मै वहाँ बैठी रही, जैसे जिन्दगी मे पहली बार मैंने कुछ पा लिया हो, जैसे पहली बार मेरे दिल को त्राण मिला हो।

मैंने आँख उठाकर ऊपर देखा। वह तस्वीर के चौखटे में से मेरी ओर देखे जा रहा था। उसके होंठों पर वही मुस्कान लौट आयी थी, जिसकी झलक मुझे शादी के पहले दिन उसके होंठो पर मिली थी।

●

मौकापरस्त

मैंने कनखियों से उसकी ओर देखा। दोनों हाथ गोद में रखे वह बगलवाली सीट पर बैठा ऊँघ रहा था। मोटर भारी ट्रैफिक में से दायें-बायें हिचकोले खाती, अपना रास्ता बनाती हुई आगे बढ़ रही थी और वह मेरी बगल में बैठा ऊँघ रहा था। उसके गोल-गोल पिलपिले हाथ देखकर मुझे चिप-चिपी-सी हुई। शायद सभी व्यवहार-पटु लोगों के हाथ गोल-गोल और पिलपिले होते हैं, मैंने मन-ही-मन कहा। यह ऊँघते हुए भी कुछ-न-कुछ सोच रहा होगा। स्कीमें बना रहा होगा। यों उसकी व्यवहार-कुशलता उसकी आँखों में से झाँकती रहती थी। साँप की-सी पैनी, छोटी-छोटी बेचैन आँखें, जो लगता, देखती भी है, सोचती भी हैं, और डसती भी हैं। क्षण-भर के लिए भी वे पैनी नहीं रह पाती थीं। पर जितनी उसकी आँखें पैनी थीं, उतना ही उसका बदन ढीला-ढाला और सुस्त था। लिबास भी ढीला-ढाला, चाल भी ढीली-ढाली। मैंने कभी उसे अपने कोट के बटन बन्द करते नहीं देखा था। जब दूर से आ रहा होता, तो उसके घुटनों तक लम्बे कोट के दोनों पल्ले, किवाड़ के दो पल्लों की तरह हवा में झूल रहे होते। इस पर वह सारा वक्त जेब में से कुछ-न-कुछ निकालकर खाता-चबाता रहता—कभी चने, कभी रेवड़ियाँ, कभी चिलगोज़े। जब भी मेरे साथ बात करता, मेरे सिर के साथ अपना सिर जोड़कर बात करता और मुझे ढकेलता हुआ एक ओर ले जाता। पर वह सियासतदान था और बिगड़ते काम बना सकता था। उसकी व्यवहार-पटुता के कारण ही मैं मिन्नत-समाजत करके उसे अपने साथ ले आया था। सभी को उसकी जरूरत रहती थी। किसी की सिफारिश डलवाना, किसी का मुकदमा खारिज

करवाना हो, ब्याह हो, मरना हो, वह टोपी सिर पर रखकर सबके साथ चल देता था। उसके बारे में मशहूर था कि सुबह आठ बजे घर पर उसे पकड़ लो तो पकड़ लो, उसके बाद उसका कुछ पता नहीं चलता था।

शहर के दूसरे किनारे, एक गली में, शम्भू मर गया था और मुझे उसके दाह-कर्म का प्रबन्ध करना था। शम्भू का बेटा सारा शहर लांघकर सुबह-सुबह मेरे घर पहुँचा था और खबर देने के बाद देर तक किंकर्तव्य-विमूढ़-सा मेरे मुँह की ओर देखता रहा था। तभी मुझे रामदयाल का खयाल आया था। यदि रामदयाल साथ में हुआ, तो सभी काम सुभीते से हो जायेगा, और मैं आठ बजते-बजते ही उसके घर जा पहुँचा था। पहले तो उसने इनकार कर दिया और टस-से-मस न हुआ। नगर-निगम का कोई इलेक्शन होने जा रहा था और दो दिन बाद वोट पड़ने वाले थे।

"बड़ा कड़ा मुकाबला है," वह बोला, "एक-एक वोट कीमती है। आज माफ़ कर दो। मैं तुम्हारे साथ नहीं चल सकता।"

मैंने मृतक का वास्ता डाला, शर्मिन्दा किया—जो आदमी मर गया था, वह भी हमारी पार्टी ही का आदमी था। अचानक हादसे में मारा गया था। उसके दाह-कर्म का प्रबन्ध करनेवाला कोई नहीं था।

'मैं मुर्दे जलाता फिरूँ, तो इलेक्शन कौन लड़ेगा? तुम चले जाओ, आज मैं नहीं जा पाऊँगा। मुझे बहुत काम है।"

पर आखिर वह चल पड़ा था और मोटर में बैठते ही ऊँघने लगा था। शम्भू हमारी पार्टी का बहुत सक्रिय सदस्य तो नहीं था, मीटिंगों में चुपचाप एक ओर खड़ा रहता था और जो काम कह दो, कर देता था। छोटा-मोटा गवैया भी था, जो जलसे से पहले हारमोनियम लेकर, गला फाड़-फाड़कर भीड़ जुटा दिया करता था। एक जलसे में भाग लेने ही जा रहा था, जब एक हादसे में सड़क पर ही ढेर हो गया था। मैं हैरान था कि उसकी दाह-क्रिया के प्रति रामदयाल क्यों इतना उदासीन है।

सड़क पर ट्रैफ़िक की मारा-मारी बढ़ गयी थी। आकाश में मँडराती चील की भाँति मौत सारा वक़्त शहर की सड़कों पर मँडराती रहती है और अवसर पाकर बार-बार झपट्टा मारती है। दिन में एक-आध बार ज़रूर सड़क पर कहीं खून के छींटे, कहीं खून के धब्बे से भरी सफ़ेद चादर के नीचे कोई राहगीर, कहीं बिखरे हुए काँच के टुकड़े देखने को मिलते हैं, जिन्हें देखकर लगता है कि मौत अभी-अभी वहाँ से होकर गुज़री है। पर

फिर भी ट्रैफिक की दौड़ कभी थमने में नहीं आती। इसी ट्रैफिक की किसी भँवर में शम्भू फँसकर जान से हाथ धो बैठा था।

बूचड़खाने तक पहुँचते-पहुँचते दस बज चुके थे। तभी एक जगह मोटर को फिर से रुक जाना पड़ा। बकरियों का एक रेवड़ सड़क पार कर रहा था। मैंने आँख उठाकर देखा, हम बूचड़खाने के नजदीक पहुँचे थे। सड़क के दायीं ओर मैदान में से बकरियों का एक रेवड़ धूल उड़ाता, सड़क लाँघकर दूसरी ओर बूचड़खाने की लम्बी बैरक की ओर बढ़ रहा था। बूचड़खाने में शाम चार बजे कहीं कटाई शुरू होनी थी पर बकरियों के रेवड़ बूचड़खाने की बैरक के सामने अभी से इकट्ठे होने लगे थे। मैं बड़बड़ाया और मोटर को एक ओर खड़ा कर दिया। मेरे साथी ने झटके से सिर हिलाकर आँखें खोलीं।

"क्या है? पहुँच गये? अरे, अभी यहाँ तक ही पहुँचे हो? तुमने मुझे कहीं का न रखा।"

ढलती धूप में बकरियों की खाल चमक रही थी। बड़ी बेताबी से वे एक-दूसरे को ढकेलती, बूचड़खाने की ओर भागी जा रही थीं। सभी बकरियाँ सामने की ओर देखे जा रही थीं। लगता था, बकरियों की आँखें झपकती नहीं हैं।

तभी मोटर के पीछे खटका हुआ। मैंने मुड़कर देखा, दो-तीन छोटे-छोटे बच्चों के अलावा मुझे कुछ नजर नहीं आया। शायद इन्हीं में से किसी ने मोटर को छेड़ा था। मैं मोटर में से उतर आया। लड़के मोटर को छेड़ नहीं रहे थे, उसके पीछे मानो छिपे खड़े थे। दो के हाथों में मिट्टी के कटोरे थे। वहाँ पर वे एक बकरी को पकड़े बैठे थे और उसका दूध दुहने की कोशिश कर रहे थे। एक लड़के ने बकरी को उसके सींगों से पकड़ रखा था। दूसरा घुटनों के बीच मिट्टी का कटोरा थामे, दोनों हाथों से उसका एक थन पकड़कर उसमें से खींच-खींचकर दूध निकालने की कोशिश कर रहा था। बकरी सींग छुड़ाकर मोटर के बगल की ओर आ गयी थी और लड़के फिर से उस पर पिल पड़े थे और फिर बेउसके साथ जूझने लगे थे। बूचड़खाने की ओर जानेवाली बकरी का दूध अब किसे दुहना था! दो बूँद दूध कहीं बच रहा है और ये बच्चे थनों को खींच-खींचकर उसे निकाल रहे हैं। बकरियाँ अभी भी सड़क पार कर रही थीं। उनके थन बोझिल, दायें-बायें झूल रहे थे।

लगता था, दूध से भर रहे है। दो-तीन बकरियों के थनो पर तो अभी भी कपड़ा बँधा था।

लडकों को दूध हाथ लग गया था। वे चहक रहे थे और ही-ही करते बकरी के थनों को खीचे जा रहे थे। पर वे बकरी को सँभाल नही पा रहे थे। वह बार-बार आगे बढ़ जाती और वे उचकते हुए उसके पीछे-पीछे भागने लगते।

सहसा मोटर में से हँसने की आवाज़ आयी।

"मौके का फायदा उठा गया लौडा! बडा मौकाशनास है!"

रामदयाल था। मैं समझे बैठा था कि रामदयाल सो रहा है। मुझे मालूम नही था कि वह भी उसी ओर देखे जा रहा था। "चलो, जो हाथ लग जाये! लड़का चतुर है!"

सामने की ओर से बकरियाँ बराबर सडक पार करती हुई बैरक की ओर बढ़ रही थी। सड़क के बायी ओर, बूचडखाने के मैदान में, तीन-चार और लड़के भी कटोरे उठाये बकरियो के पीछे भाग रहे थे। एक लडकी ज़मीन पर से बकरियों की मेंगनियाँ लपक-लपककर बटोर रही थी। तभी एक औरत बडबडाती, गालियाँ बकती एक ओर से आयी और मोटर की बगल मे दूध दुहते बालकों पर झपट पड़ी। आव देखा न ताव, एक बालक का हाथ पकडकर खीचती हुई उसे सडक पर ले आयी।

"नामुराद, देख तो तेरी टाँगें न तोड़ूँ। रोज मैं तेरे पीछे भागा करूँ! अंग-अंग मे कीड़े पड़ेगे। मरती बकरी के थनो मे से दूध खीचता है, उसकी हाय लगेगी। तिल-तिल कर मरेगा। मै कलप-कलप कर मर गयी, तू मेरी नही सुनता! ऐसा दूध का चस्का था, तो मेरी कोख मे क्यो पैदा हुआ था…!" और लड़के को बाज़ू से झिझोडती हुई वह उसे अपने साथ ले चली।

औरत की आँखों में से भय झाँक रहा था, भगवान के कोप का भय, संसार की अदृश्य शक्तियो का भय, और वह अपना तमतमाता, भयाकुल चेहरा पल्लू की ओट मे छिपाती बच्चे को खीचकर वहाँ से ले गयी। बालक अभी भी दूध खीचने की कोशिश कर रहे थे।

बकरियाँ निकल जाने पर सडक खुली, तो मैं मोटर स्टार्ट करके सड़क पर आ गया। धूप तेज हो रही थी। फिर से ट्रैफिक छूटने पर गाडियों, मोटरों, स्कूटरो मे से रास्ता बनाना कठिन हो रहा था। देर होने लगी थी

श्रौर मैं चाहता था, जितनी जल्दी हो सके शम्भू के घर पहुँचूँ, जाने उसके परिवार के लोग क्या सोचते होंगे ?

मैंने रामदयाल की ओर देखा। वह फिर से ऊँघने लगा था। उसके गोल-गोल हाथ उसकी गोद में जुड़े थे श्रौर ठुड्डी झुककर छाती से लगी थी। मुझे फिर इससे ईर्ष्या हुई। उसे कोई बात विचलित नहीं कर पाती थी। ज़िन्दगी में मज़बूत कदमों से चलता है, सहमा-सहमा ज़िन्दगी की परिधि पर डोलता नहीं रहता। कोई बात उसके दिल को कचोटती नहीं। चुनावों के बीच उसका समूचा व्यक्तित्व जैसे निखर उठता है। नगर-निगम के तीन चुनाव श्रपने बूते पर जीत चुका है। पार्टी के प्रत्येक चुनाव की बागडोर उसके हाथ में रहती है। नगर की राजनीति उसकी हथेली पर रहती है, उसके बिना पार्टी एक कदम नहीं उठा सकती।

"रुको जी, गाड़ी रोको ! रोको यार···।" रामदयाल ने सहसा मेरे हाथ पर हाथ रखते हुए कहा, "तुम मुझे यहीं उतार दो।"

"तुम मेरे साथ शम्भू की श्रन्त्येष्टि पर नहीं चलोगे ?"

"चलूँगा, चलूँगा, ज़रूर चलूँगा !"

"यहाँ क्यों उतरना चाहते हो ?" मैंने खीजकर पूछा।

"यहाँ मुझे दो मिनट का काम है। बाद में बताऊँगा। रोको।"

"तुम नहीं श्राश्रोगे, मैं जानता हूँ। तुम चुनावों के चक्कर में पड़े हो, तुम्हें किसी श्रौर बात की सुध-बुध नहीं है !"

"कौन कहता है, नहीं श्राऊँगा ? तुम्हारे साथ श्राया किसलिए ? तुम चलो, मैं पहुँचता हूँ।"

मैंने मोटर रोक दी। वह झट से दरवाज़ा खोलकर निकल गया।

मैं फिर कुछ कहना चाहता था पर वह जा चुका था। उसके कोठे के बड़े-बड़े पल्ले फिर से झूलने लगे थे श्रौर उसकी चौड़ी पीठ बड़ी दृढ़ता से दूर होती जा रही थी। मैं निराश हो गया। उसे साथ में लाना ही भूल थी।

श्ररथी श्रभी नहीं निकली थी। जो इन्तज़ाम मुझे करना था, वह जैसे-तैसे घरवालों ने पड़ोसियों की मदद से कर लिया था। तंग-सी गली में शम्भू की श्ररथी ज़मीन पर घर के सामने रखी थी। उसका बेटा घर के चबूतरे पर बैठा नाई से सिर मुँडवा रहा था श्रौर उसकी पत्नी पड़ोस की

बोला, वरना मैं फिर उस पर टूट पड़ता और शायद उसका गला घोंट देता।

देर तक सीट पर बैठे रहने और एक के बाद एक, तीन सिगरेटें फूंक चुकने के बाद मैं थककर चूर हो गया था। वहीं बैठे-बैठे मैं उकड़ूं होकर सीट पर लुढक गया।

गाड़ी दहाड़ती हुई चली जा रही थी। शायद यह सारा बीभत्स नाटक इस चिंघाड़ती गाड़ी के कारण हुआ था। मैं उसे बरदाश्त नहीं कर पा रहा था। शायद इस आदमी की समतल आवाज़ ने मुझे बेचैन कर दिया था··· उसके इस गूढ़ विश्वास ने कि जीवन को बदला जा सकता है, बेहतर बनाया जा सकता है।

जब मेरी आंख खुली, तो गाड़ी किसी स्टेशन पर रुकी थी। न जाने कितनी देर से रुकी खड़ी थी। मेरा जिस्म अकड़ रहा था। टेढा औंधे मुंह पड़े रहने के कारण मेरा अंग-अंग अकड़ गया था। गाड़ी खड़ी थी और चुप थी, जैसे कोई चिंघाड़ता जन्तु सहसा चुप हो गया हो। न जाने रात कितने पहर बीत चुकी थी।

तभी मेरी नजर सामने की सीट पर गयी। वह आदमी सीट के एक कोने में बैठा, घुटनों पर कापी रखे कुछ लिखे जा रहा था। कोई लेख लिख रहा है, मैंने सोचा। स्थिति की विडम्बना को देखते हुए हँस देना चाहिए था, पर इसके विपरीत मेरा गला रुँधने लगा। मुझे लगा, जैसे मैं कोई भयानक सपना देखकर उठा हूँ।

तभी गार्ड के सीटी देने की आवाज़ आयी और गाड़ी रुकने लगी। उसकी गरदन कागज़ पर झुकी हुई थी और टोपी फिर से सिर पर थी। मुझे लगा, जैसे अब वह मुझ पर हँस रहा है, मुझे ज़लील कर रहा है। अब की बार उसकी टोपी उतार फेंकने का उत्साह मुझमें नहीं रह गया था।

फिर उसने एक अजीब बात की। मुझे अपनी सीट पर उठकर बैठा देखकर वह ठिठका और देर तक चुपचाप मेरी ओर देखता रहा। एक क्षीण-सी मुसकान उसके होंठों पर आयी। उसने लौटकर अपने कागज़ की ओर देखा, जिस पर वह लिख रहा था। फिर उसने मुड़कर खिड़की की ओर हाथ बढ़ाया, उसका पल्ला उठाया और हाथ में पकड़ा कागज़ मरोड़-

कर बाहर फेंक दिया।

—यही ठीक है ना? उसने मुसकराकर कहा—शायद तुम ठीक कहते हो, बूढ़ों को जिन्दगी से किनारा कर लेना चाहिए! बेहतर है, ये अन्धकार में डूब जायें! जन्म लेते ही मर जायें! फिर धीरे से बोला—मैं तो दो-तीन वरस में जाऊँगा। पर तुम···? तुम्हारा क्या होगा?

गाडी धीरे-धीरे रुकने लगी थी। वही शीतल पाखण्डपूर्ण मुसकान उसके चेहरे पर लौट आयी थी, मानो उसके अन्दर फिर से कोई सरगम बजने लगी थी और वह उसकी लय पर अपना हाथ तैराते हुए फिर कुछ बोलने जा रहा था, फिर से कोई उपदेश झाडने जा रहा था। मैंने मुंह फेर लिया और बाहर फैले निबिड़ अन्धकार में आँखें फाड-फाड़कर देखने लगा।

●

पैरों का निशान

अस्पताल के लम्बे बरामदे, एक के बाद एक लाँघते हुए हम जाने कहाँ से कहाँ पहुँच गये। फिज़ियो-थिरेपी विभाग का कहीं नाम-निशान नहीं मिल रहा था। लम्बे गलियारों-बरामदोंवाले स्थान यों भी भयावह-से लगने लगते हैं, चारों ओर लगता है, सूसा मार गया है, अँधेरे, अन्तहीन, दिशा-हीन, न किसी से जान न पहचान, अपना दुखता अंग लिये घूमते रहो न कोई बतानेवाला, न कोई सीधे मुँह बात करनेवाला। बरामदे भी लम्बे और लाइनें भी लम्बी और सेक्रेटेरियट और जेलखाने जैसा अँधेरा।

"बोलो, अब मैं अकेली आती तो कहाँ मारी-मारी घूमती। एक को दूसरे का सहारा होता है। तुमने तो बस कह दिया, अपने-आप चली जाओ।"

पत्नी पीछे-पीछे घिसटती आ रही थी और हम बरामदे पर बरामदा लाँघ रहे थे।

पत्नी को गर्दन के पीछे दर्द उठा था और मैं खीझा हुआ था। हर बार, हर आये दिन कोई-न-कोई नया बखेड़ा उठ खड़ा होता है जिससे मुझे या तो लाइनों में खड़ा होना पड़ता है या लम्बे बरामदे लाँघने पड़ते हैं। हमारी सड़कें भी लम्बे बरामदों जैसी ही बन गयी हैं, तुम लाँघते जाओ और धक्के खाते जाओ, एक राहगीर दूसरे को नहीं देखता, केवल ठोकर लगने पर गाली बकता है और अपनी परेशानी का मारा आगे बढ़ जाता है। मैं अपने मन की खीझ निकाल भी नहीं सकता था, क्योंकि इस पर पत्नी रो पड़ती है और एक और बखेड़ा खड़ा हो जाता है। वह हमेशा सहानुभूति की रट लगाये रहती है कि इन्सान को इन्सान का दर्द होना चाहिए। अब सहानु-

नूति को कोई चाटे जब प्राराम से बैठना ही नसीब न हो।

तभी कुछ दूर मुझे एक पंगु नजर प्राया, फिर दूसरा नजर प्राया, फिर तीसरा प्रौर मैं समझ गया कि फिजियोथिरेपी विभाग नजदीक प्रा रहा है। यहाँ विभाग विशेष के रोगी एक-प्राध गलियारा पहले ही नजर प्राने लगते हैं, जैसे रेलगाड़ी के स्टेशन पर पहुँचने से पहले ही परिचित चिह्न नजर प्राने लगते हैं। हम पिछले पाँच मिनट ठीक दिशा में बढ़ते प्राये थे। दायें हाथ दीवार पर चित्रों के फ्रेम लगे नजर प्राये। मैं एक फ्रेम के सामने रुक गया। पलंग पर बैठे एक रोगी का सिर एक खोल में बँधा था, प्रौर खोल के ऊपर रस्सी उसे ऊपर की प्रोर खींचती हुई एक गरारी के ऊपर से होकर पलंग के पीछे चली गयी थी, जहाँ उसके साथ बड़े-बड़े लोहे के बट्टे लटक रहे थे। रोगी की प्राँखों में नि:सहायता प्रौर त्रास झलक रहे थे। मेरे मन में प्राया कि पत्नी के पास पहुँचने के पहले ही प्रागे बढ़ जाऊँ, उसे यह चित्र देखना ही न पड़े, फिर मन में प्राया, खड़े रहो, वह भी देख ले कि उसकी लापरवाही के कारण प्रब उसे क्या भुगतना पड़ेगा। हम जो कुछ सीखते हैं दु:ख प्रौर क्लेश से ही सीखते हैं, सुख प्रौर प्राराम से कभी किसी ने क्या सीखा है। पर पत्नी पहले से ही पहुँच चुकी थी प्रौर मेरे पीछे खड़ी प्रपनी बड़ी-बड़ी प्राँखों से चित्र की प्रोर देखे जा रही थी।

"इस प्रादमी को कोई दूसरी बीमारी है," मैंने उसका ध्यान हटाने की चेष्टा करते हुए कहा। पत्नी कुछ नहीं बोली, चुपचाप सिर हिला दिया प्रौर चित्र की प्रोर देखती रही। उसकी चुप्पी के पीछे कौन से बादल घुमड़ने लगते हैं? उसकी चुप्पी प्रौर बड़ी-बड़ी प्राँखें। मैं सिर पीट लूँ तो भी नहीं बतायेगी कि उसके मन में क्या है। फिर वह बोली, "तुम इतना तेज-तेज चलते प्राये हो। मेरी गर्दन में दर्द है, मुझसे चला भी नहीं जा रहा था। तुम्हें कुछ तो सोचना चाहिए। मैं कहीं खो जाती तो? दिन-भर भटकती रहती।"

मैंने प्रपनी खीझ का घूँट पी लिया।

"इस जगह को भी तो ढूँढना था। चार बजे विभाग बन्द हो जाता है। प्रब वक्त ही कितना रह गया है।"

मेरी सदा यह कोशिश रही है कि पत्नी प्रपने पैरों पर खड़ा होना सीखे, बाहर के सभी काम खुद कर सके ताकि मुझे थोड़ी प्राजादी मिले, अस्पताल खुद जा सके, प्रपनी बीमारी से भी स्वयं जूझ सके…।

बरामदे के सिरे पर रोशनी थी, उजाला था। हम धीरे-धीरे उस ओर बढ़ने लगे। तभी एक बहुत बडी घटना की भाँति एक खुला चौडा कमरा हमारे सामने खडा था, धूप मे नहाया, रोशनी से भरा, और उसमें बड़ी हरकत थी, हम दहलीज पर ठिठक गये। काँच की बीसियों खिड़कियाँ थी और उनमें जैसे रोशनी बरस रही थी। एक स्वस्थ, सुन्दर, युवा लेडी डॉक्टर चटकीली साड़ी पहने इधर-उधर आ-जा रही थी। जब भी वह कमरा लाँघकर जाती, सुख की किरण-सी छिटक जाती। पत्नी भी देर तक वहाँ ठिठकी खडी थी। उसके चेहरे पर फिर वैसा ही भाव आ गया था—होंठ बन्द और आँखें सामने की ओर देखती हुई।

दायें हाथ, दीवार के साथ बैसाखियों के जोड़े रखे थे, एक के ऊपर दूसरा, बीसियों बैसाखियों के जोडे। सभी तरह की बैसाखियाँ थी, बच्चों के लिए बैसाखियाँ—छोटी-छोटी, जो देखने में खिलौना-जैसी लग रही थी। बड़ी उम्र के लोगों के लिए बैसाखियाँ, जो इस्तेमाल से चिकनी पड़ गयी थी। बच्चो के साइज की एक बैसाखी अलग से फर्श पर गिरी पडी थी, लगता था कोई अल्हड़ बच्चा खिलौने की तरह इसे फेंककर चला गया है।

फिर कमरे मे कितने ही तख्ते बिछे थे, और लोहे के पलंग, जिस पर तरह-तरह की कमानियाँ, रस्सियाँ, खोल लटक रहे थे और पीछे दीवार के साथ लोहे के बट्टे और तरह-तरह के उपकरण रखे थे। कमरा किसी स्कूल की व्यायामशाला-सा लग रहा था।

तीन तख्तों में से बीचवाले तख्ते पर लेटी बड़ी उम्र की औरत बार-बार अपने दायें-बायें देख रही थी। उसका बायाँ पैर चमडे के खोल मे बँधा था और खोल के साथ चमकता लोहे का स्प्रिंग, और स्प्रिंग के साथ रस्सी जो सात फुट ऊपर डंडहरे तक चली गयी थी, और डंडहरे पर से होकर एक गिरारी के रास्ते पीछे दीवार के पास चली गयी थी। महिला अपने दोनों हाथ कमर पर रखे अपने उठे हुए पैर को नीचे की ओर खीचने की कोशिश करती। लगता, खोल मे जकड़ा पैर सचमुच नीचे की ओर झुका है। हर बार पैर नीचे खींचने के बाद औरत दायें-बायें देखती, जैसे स्टेज का ऐक्टर देखता है, कि लोग उसकी हिम्मत की दाद देंगे, तालियाँ बजायेंगे।

मैंने पत्नी की ओर देखा। पत्नी अभी भी चुप्पी साधे खड़ी थी।

उसकी आंखों की ओर देखने पर मुझे लगा जैसे उन बड़ी-बड़ी आंखों के पीछे त्रास और भय इकट्ठा होने लगा है। यह कुछ भी बोलती क्यों नही? पर वह किसी दूसरी ओर देखे जा रही थी। तभी मेरी नजर फर्श पर बने पद-चिह्नों पर गयी। दायें और बायें पैर के निशान कमरे के बीच, एक के आगे दूसरा, दूसरे कमरे की निचली दीवार तक चले गये थे। लगता, कोई प्रेत वहां से निकलकर चला गया है और अपने पैरों के निशान छोड़ गया है। काले रंग का एक भारी-भरकम आदमी, बैसाखियों के सहारे पिछली दीवार की ओर से इन पद-चिह्नों पर चलकर आने की कोशिश कर रहा था। उसका दायां पैर तो उठ जाता और फर्श पर बने दायें पैर के रेखांकन पर आ जाता, मगर बायां पैर उठने से जवाब दे देता।

'उठाओ, उठाओ पैर, उठाओ—उठाओ,
उठेगा, शाबाश, उठा है, उठा है,
उठा है, फिर उठाओ!'

अस्पताल का एक कर्मचारी उसके साथ-साथ चल रहा था और चिल्ला-चिल्लाकर उसका हौसला बढा रहा था। अपने घुटे हुए सिर और चौडे जबडे के कारण वह फौज का सिपाही या भागा हुआ कैदी लग रहा था। बायां पैर न उठ पाने पर रोगी की बडी-बडी आंखों में पागलों का-सा त्रास झलक जाता और रेखाओं से भरे माथे पर पसीने की बूंदें टपकने लगती।

"उठा है, उठा है" कर्मचारी चिल्लाया—"अब पहले से बहुत बेहतर है।" कर्मचारी के लहजे में दूकानदारों जैसी चापलूसी थी। हर बार पैर-उठाने का प्रयास करते समय रोगी के चेहरे की मांसपेशियां सिकुडती, होंठ बेतरह से मुड़ते, आंखें जैसे फटने को हो आती, मगर वह पैर नही उठा पाता था।

"तुम मेरे पास ही रहना। मेरे पास से नही जाना"—पीछे से आवाज आयी। पत्नी सहसा मेरी कोहनी पकड़कर कह रही थी। पत्नी के हाथ में भी कंपकंपी थी, आवाज में भी।

"नही, कही नही जाऊंगा।"

"नही, तुम चले जाओगे। तुम्हारा कुछ पता नही चलता। अकेले में मुझे डर लगता है।"

"कही नही जाऊंगा।" कह तो दिया।

पत्नी को हमेशा मुझसे शिकायत रही है कि मैं आड़े वक्त भाग जाता

हूँ। शायद सभी मरीजों को भी इस बात का शक बना रहता है कि उनकी देखभाल करनेवाले लोग उन्हें छोड़कर भाग जायेंगे।

युवा डाक्टरनी फिर बड़े कमरे को लांघकर निकल गयी। वह हँसती हुई किसी डॉक्टर के साथ बतियाती हुई आयी और चली गयी। कमरे के आर-पार फिर स्वास्थ्य और सुख की किरण छिटक गयी, कमरे की मुहावनी रोशनी में हँसता हुआ रंग छिटक गया।

"यहाँ पर सभी हरामखोर हैं," घुटे सिरवाला कर्मचारी चिल्ला रहा था—"कोई भी मरीज के साथ नहीं रहता। केवल मैं रहता हूँ।" फिर अपने रोगी की ओर देखकर बोला, "उठाओ पैर, शाबाश, उठाओ पैर!"

बायीं ओर की दीवार के साथ, एक लम्बे मेज़ के पीछे सफेद रंग का लबादा पहने एक डॉक्टर, दो नर्सों के साथ, सात-आठ बरस के एक रोगी बालक का निरीक्षण कर रहा था। कुर्सी पर अधलेटे बालक का सिर एक ओर को लुढ़का हुआ था और दोनों हाथ कुर्सी की बाँहों पर रखे थे। वह अपने में खोया हुआ-सा जान पड़ रहा था। किसी-किसी वक्त वह अपनी अधमुंदी आँखें खोलता, फिर बन्द कर लेता।

"यहाँ पर काम करनेवाले सभी हरामखोर हैं," किसी स्थूलकाय रोगी को सहारा देते हुए कर्मचारी फिर बोला—"सिवाय मेरे यहाँ कोई ठीक तरह से काम नहीं करता।" वह किस व्यक्ति को सम्बोधन करके कह रहा था, और क्यों बार-बार अपनी ईमानदारी की दुहाई दे रहा था?

रोग से भी अधिक, त्रास के साये कमरे के आर-पार डोल रहे थे। सभी रोगी त्रस्त थे, अपने-अपने रोग से जूझते, अपनी-अपनी आशा से चिपटे हुए, सभी त्रस्त थे।

"क्यों जी, डाक्टर क्या कहता था?" सहसा पत्नी बोली, "क्या मैं ठीक हो जाऊँगी? आप मुझसे कुछ छिपा रहे हैं। सच-सच बताइए, डॉक्टर ने क्या कहा था?"

"डॉक्टर कहता था ठीक हो जाओगी,"—मैंने सभी डॉक्टरों का घिसा-पिटा वाक्य दोहरा दिया।

कमरे में चारों ओर, डॉक्टर और कम्पाउण्डर और कर्मचारी ढाढ़स का यही वाक्य दोहरा रहे थे, और सभी मरीज़ प्यासे पक्षियों की भाँति इसे सुन पाने के लिए आतुर थे।

बायीं ओर एक छोटे-से मेज के पीछे बैठा एक छोटा डॉक्टर एक

रोगी के हाथ की उँगलियाँ दबा रहा था।

"अब ?" छोटे डॉक्टर ने पाँचों उँगलियाँ अपनी मुट्ठी में दबाकर कलायी पर से मरीज का हाथ जोर से दोहरा किया, दबाया।

मरीज के चेहरे पर एक भी मांसपेशी नही हिली। उसकी पथरायी-सी आँखें डॉक्टर के चेहरे पर लगी रही।

"अब ?"

मरीज ने सिर हिला दिया। कोई असर नही हुआ था। कही कोई टीस नही उठी थी।

"ठीक हो जायेगा," डॉक्टर ने अपने इश्तहारी लहजे में कहा। "पहले बिजली लगायेंगे, दस दिन तक बिजली लगेगी, इसके बाद व्यायाम'''।"

तभी डॉक्टर के मेज़ के पास बैठी दो औरतें आपस मे झगड़ने लगीं।

"जबरदस्ती तो मैं तुम्हे पलंग पर चढने नही दूंगी," बुढिया कह रही थी।

"मैं तुमसे कुछ नही तो आधा घण्टा पहले आयी हूँ। तुम दूर से आयी हो तो मैं भी तो गुडगावाँ से आयी हूँ।"

पर दूसरी, मँझली उम्र की औरत पलंग पर चढ़कर लेट भी गयी थी। और बुढिया फुफकारकर डॉक्टर से कह रही थी—

"यह भी कोई इन्साफ है डॉक्टरजी, इलाज हमें भी करवाना है, यह जबरदस्ती करेगी तो मैं देखती तो नही रह सकती'''।"

पर फिर लाचार होकर अपना माथा पकड़कर कुर्सी पर बैठ गयी।

तभी वे उस बालक को बडे कमरे मे लाये ! दायें-बायें दो कर्मचारियों ने उसे थाम रखा था। शायद इसी बालक का प्राथमिक निरीक्षण डॉक्टर करता रहा था। बालक दो आदमियों की मदद से भी चलता तो झूलता हुआ। बायी टाँग पर घुटने तक खोल चढा था। एक कदम उठाने पर ही उसका सारा शरीर झूल जाता और गर्दन पीछे की ओर लुढ़क जाती, कभी आगे की ओर गिरने को होता, कभी पीछे की ओर। जर्द पीले चेहरे पर आँखें टेढी हो रही थीं।

अनायास ही आस-पास के सभी लोगों की आँखें उस बालक की ओर खिच गयी। उनका एक-एक साँस जैसे बालक का एक-एक कदम गिनने लगा था।

तभी वे कमरे के ऐन बीचोबीच पहुँचे जहाँ पैरों के निशान बने थे।

उस बालक की भूलती नज़र उन पद-चिह्नों पर पड़ी।

पैरों के निशान देखते ही बच्चा हुमक उठा। वह कर्मचारियों की ओर देखकर मुस्कराया, गुलाबी होंठों की एक टेढ़ी, गीली-सी मुस्कान। फिर उसने किलकारी भरी और अपना पैर पद-चिह्न पर रखने के लिए उठाया। पर उसका सारा शरीर डोल गया, कर्मचारियों ने आगे बढ़कर उसे थाम लिया। वह फिर मुस्कराया, किलकारी भरी और फिर से पैर के खाके पर अपना पैर रखने के लिए उतावला हो उठा। अब की बार पैर उठाने पर कर्मचारी भी उसे थाम नहीं पाये और धड़ाम से फर्श पर जा गिरा। कमरे में सभी लोग सिसकार उठे। पर जब बालक को खड़ा किया गया तो वह फिर से अपनी टेढ़ी आँखों से पद-चिह्नों की ओर इशारा कर रहा था और हँस रहा था। उसकी दोनों टाँगें, उसका सारा शरीर पद-चिह्नों पर खेल पाने के लिए बेचैन था। वह बार-बार अपना लड़खड़ाता पैर पद-चिह्नों पर रखने के लिए उठाता, बार-बार ही वह किलकारी भरता…।

उसके आ जाने से कमरे में जैसे दु:ख का सब संगीत बज उठा! और सभी लोग इस लय पर चलनेवाली उस बाल-लीला को देखे जा रहे थे।

पत्नी की आँखें भी बालक पर लगी थीं। बड़ी-बड़ी आँखें, मानो वह अपनी आँखों से उस गिरते बालक को थाम लेना चाहती हो।

●

अभी तो मैं जवान हूँ

पनवाड़ी की दूकान के पास पहुँचते ही मेरे बोझिल पाँवों ने पहचान लिया कि नजदीक ही कहीं चकला होगा। कहीं पर शायद फूलों के दो गजरे लटक रहे थे, या ऊपर कहीं से तबला-सारंगी बजने की आवाज़ आयी थी, या कोई मूँछोंवाला, कन्धे पर चादर रखे, मेरा रास्ता काट गया था, मैं नहीं जानता। मैं कुछ कदम तक और आगे बढ़ता गया। रेलवे-शेड की लम्बी दीवार साथ-साथ चली आयी थी, जिस पर असंख्य इश्तहार लगे थे और जिसके नीचे सारा इलाका पेशाब करता था। तभी सचमुच चकला आ गया। मैंने नज़र उठाकर दायें-बायें देखा—ऊपर के कोठों में रोशनी थी और उनमें से संगीत की धुनें बह-बहकर आ रही थीं जब कि नीचे, एक सँकरी-सी गली अन्दर को चली गयी थी।

मैं अपने को सोचने का मौका दिये बिना सँकरी गली में घुस गया। पर घुसने से पहले मैंने फिर भी दायें-बायें देखा था। यह भी मेरी स्थिति की विडम्बना ही थी। जूते मेरे फट चुके थे, पाजामा चीकट हो चुका था, पैसा मेरी जेब में नहीं था, इस पर ऐसा बेरोज़गार जिसे जूते मारकर उसके वर्ग में से निकाल दिया गया था और लुढ़कता हुआ गलियों-सड़कों की खाक छानता फिर रहा था, फिर भी अपनी भद्रता को छाती से चिपकाये हुए था जैसे बन्दरी अपने मरे हुए बच्चे को छाती से चिपकाये रहती है। नाली पार कर गली में घुसने से पहले मैं द्विविधा में डोला था और दायें-बायें झाँक गया था कि उस अजनबी शहर में भी चकले के अन्दर जाते किसी ने मुझे देखा तो नहीं।

चकला मेरे लिए अजीब धड़कनोंवाली जगह रही थी और उसे देख पाने

के लिए मेरे मन में अदम्य कुतूहल था। जब कभी दिन के वक्त भी किसी चकले-चौबारे पर से लटकती मैली दरियाँ और चादरें देख लेता, या मुँडेर के पीछे खड़ी कोई रंडी बाल काढ रही होती तो मेरा मन चकले की अपनी परिकल्पना में तरह-तरह के रंग भरने लगता। इस पर मैंने वेश्याओं के बारे में तरह-तरह के किस्से सुन रखे थे, उनके दबंग स्वभाव के बारे में, उनकी बे-पर्द जिन्दगी के बारे में। मेरी कल्पना में वह एक निराली दुनिया थी जिसका अपना रंग था पर शायद मैं अपने को धोखा दे रहा हूँ। वास्तव में उत्तेजना और वासना की भूख ही मुझे उस ओर ले गयी थी जिस भाँति सभी पुरुषों को ले जाती है। सम्भव है, अवचेतन में कहीं सद्भावना की भूख भी रही हो। थके-हारे मनुष्य को जब कहीं त्राण नहीं मिलता तो वह स्त्री की ओर जाता है, जहाँ स्त्री होगी वहाँ स्निग्धता होगी; मेरे लिए त्राण होगा, मेरे दिल का सूनापन भर जायेगा। न जाने कैसी-कैसी भ्रान्तियाँ मनुष्य अपने हृदय में पालता रहता है।

गली टेढी-सी थी, किसी की दो दीवारें, तिकोन का कोण बनाती हुई तंग गली को काट गयी थी, जिससे गली और भी ज्यादा सँकरी और बेढब हो गयी थी। गली का मोड़ काटने पर मद्धम-सी रोशनी नजर आयी। दायें हाथ एक जीना ऊपर को चला गया था। जीने मे अस्थिर-सी रोशनी थी, टिमटिमाते दीये की रोशनी और ऊपर से बतियाने की आवाजें आ रही थीं। कोई औरत कह रही थी—महीने-दो महीने मे एक बार आता है, कलकत्ते से आता है मगर सीधा हमारे यहाँ आता है। खुदा कसम कभी किसी दूसरी के पास नहीं गया। रात-रात हमारे पास रहता है···

आवाज से अधेड़ उम्र की औरत जान पड रही थी। फिर किसी ने जम्हाई ली। औरत कहे जा रही थी—पीछे महँगाई बढ गयी तो उसने अपने आप हमारी उजरत बढा दी—कोई-कोई होता है ऐसा···

दीये की अस्थिर रोशनी में सीढियाँ सूनी-सी लग रही थी। दीवारों पर, लगभग ऊपर से नीचे तक पान की पीक के निशान थे, और सीढ़ियाँ चढते-उतरते अजनबी पाँवों के नीचे बहुत कुछ घिस-पिट चुकी थी। कलकत्तेवाले बाबू के इन्तजार मे ही शायद उसने दीया जलाकर रख छोडा था। तभी एक धोतीवाला आदमी पीछे से आया, सीढ़ियों के नीचे क्षणभर के लिए ठिठका, रान खुजलायी, दीवार पर पान की पीक थूकी और धोती सँभालता धीरे-धीरे सीढियाँ चढ गया। क्या यही कलकत्तेवाला

निष्ठावान प्रेमी तो नहीं था ?

गली का मोड़ मुड़ने पर दृश्य बदल गया। सामने बड़ा-सा आँगन था और दायें हाथ एक चौड़ी-सी गली निकल गयी थी जिसके दोनो ओर कोठरियों की कतारें थीं। कोठरियों के सामने बिजली के कुमकुमे लटक रहे थे और नीचे कुर्सी बिछाये रंडी बैठी थी। उस ओर चहल-पहल थी। बहुत-से लोग आ-जा रहे थे। परन्तु सामने आँगन में लगभग अँधेरा था और उसमें मँडराते लोग प्रेतों-से लग रहे थे। दो-एक जगह अलाव जल रहे थे और उनके इर्द-गिर्द कुछ लोग बैठे आग ताप रहे थे। बायें हाथ को भी आँगन में खुलनेवाली कोठरियों की एक पाँत थी पर यहाँ पर रोशनी कम थी और लोग भी कम थे। ज्यादा रोशनी दायें हाथ की गली में ही थी। और यही चकले का धड़कता दिल जान पड़ता था।

—अरे उधर रिटायर माल है चवन्नी-अठन्नीवाला, छोड़, उधर जाकर क्या देखेगा ?

मेरे नजदीक ही आँगन के सिरे पर खड़ा एक लम्बा-सा छरहरे बदन का आदमी अपने साथी से कह रहा था। खाकी पतलून पहन और बालों में ढेरों तेल उँडेलकर आया था, जो आँगन की मद्धम रोशनी में भी चमक रहे थे। उसके साथी की नजर बायीं ओर की तीन कोठरियों पर थी जहाँ बीच की कोठरी का दरवाजा बन्द था और दायें-बायें कोठरियों के सामने अधेड़ उम्र की काली-कलूटी दो रंडियाँ उकड़ूँ-सी बैठी थीं।

तभी बीचवाली कोठरी का दरवाजा खुला और छोटे-से कद का मैला-सा कोई युवक गर्दन झुकाये, बगलें झाँकता-सा निकला और जल्दी ही रोशनी का चित्ता पार करके आँगन के अँधेरे में आ गया। शक्ल-सूरत से वह किसी घर का नौकर जान पड़ता था। पास से गुजरा तो उसे चपरासी ने रोक लिया—कैसी थी ? चपरासी ने पूछा।

नौकर झेंप गया। उसका मुँह पसीने से तर था और चेहरा ऐसा जो दिन की रोशनी में भी साफ नजर नहीं आये। वह चुप रहा और वहाँ से खिसक जाने की कोशिश करने लगा।

—कितने पैसे लिये ? चपरासी ने पूछा।

—आठ आने पैसे।

—कैसा रहा ? चपरासी ने फिर पूछा।

इस सवाल पर नौकर फिर झेंप गया। खिसियायी-सी हँसी के साथ

वह वहाँ से निकलने की कोशिश करने लगा। उससे कुछ कहते नही बना मानो जिस चीज के लिए वह इतना उतावला होकर ग्राया था, वह खत्म होने पर वडी बेमानी-सी लगने लगी थी—ग्ररे, हम भी जाना चाहते है। बताग्रो तो कैसी रही ?

नौकर ने धीमे से 'हूँ' कहा ग्रौर सिर हिला दिया। उसने पहली बार सिर ऊपर को उठाया, उसकी छोटी-छोटी ग्राँखें पानी के कारण गँदली हो रही थी—उस बुढिया के पास क्या गया था !

—इधर ग्रौर भी तो हैं। ग्रठन्नी में तो ग्रौर भी मिल जाती। चपरासी बोला।

—ग्रठन्नी में कहाँ मिलती है ! वह गाली नही देती, उधरवालियाँ गाली देती है। नौकर खुलने लगा था।

—ग्रौर फिर···

—फिर क्या ?

—वे छातियों पर हाथ भी नहीं रखने देती।

—यह रखने देती है ? चपरासी ने हँसकर पूछा।

—हाँ। नौकर ने कहा ग्रौर फिर से झेंप गया ग्रौर खिसियायी हँसी हँसकर उधर से निकलने को हुग्रा।

उसके चले जाने पर चपरासी ग्रपने साथी से बोला—रँडी बहुत ग्रायी है। नीचे सूखा पड़ा है ना, इसलिए। चल, तुझे बढ़िया माल दिखाते हैं। ग्रौर उसका हाथ पकड़कर उसे दायीं ग्रोर ले चला।

तभी ग्रांगन के पार, बायी ग्रोर को हंगामा-सा उठ खडा हुग्रा। ग्रलाव के पास से लोग उठ-उठकर उस ग्रोर जाने लगे। चपरासी ग्रौर उसका साथी भी उस ग्रोर को हो लिये।

—क्या हुग्रा है ? क्या बात है ? ग्रलाव के पास बैठी एक बुढ़िया से मैंने पूछा।

—ग्ररे होगा क्या ! दस बरस की लौंडिया को कोठरी मे बैठा दिया, लोग छोड़ेंगे थोड़े ही उसे ! कल तो ग्रायी है एक हज़ार मे। ग्रब पूछते फिरो, किसने बैठाया ? सब कलुवे की सरारत है। हम तो साम से देख रही हैं।

उधर मार-पीट शुरू हो गयी थी। नंगे बदन एक पतला-सा किन्तु फौलाद की तरह मजबूत ग्रादमी एक ग्रधेड़ उम्र के बाबू को थप्पड़ पर

थप्पड मारे जा रहा था। बायें हाथ से उसका गला पकड़े श्रौर उसे श्रपने से पूरे बाजू की दूरी पर रखे। दायें हाथ से उसके मुंह पर घूंसे पर घूंसा मारे जा रहा था। दो-तीन घूंसों तक तो बाबू विफरता-बोलता रहा, पर तीसरे या चौथे घूंसे पर उसकी गर्दन लटक गयी श्रौर किश्तीनुमा काली टोपी नीचे जा गिरी। पर घूंसे श्रभी भी बराबर पड रहे थे।

—छोड दे बे कलुवे, मियांजी श्रा रहे हैं। भीड में से किसी ने चिल्लाकर कहा।

कलुवे के हाथ थम गये, बहुत-से लोगों की नजरें दो कोठरियों के बीच ऊपर से उतरनेवाले जीने पर लग गयी। कुछ लोग झांक-झांककर बायें हाथ की बन्द कोठरी की श्रोर देखे जा रहे थे जिसके बन्द दरवाजो के पीछे से किसी के रोने-सिसकने की श्रावाज श्रा रही थी। कलुवे ने बाबू की गर्दन छोड़ दी श्रौर लोगो की श्रोर देखकर बोला—जाश्रो-जाश्रो, इधर क्या भीड जमा रखी है। जाश्रो, श्रपना काम देखो।

सीढियो पर से उतरनेवाले मियां साहब की टांगें नजर श्रायी, पांवों में कामदार स्लीपर, उचड़ा हुश्रा सफेद पाजामा, धीमी बोझल गति, फिर उनकी सारी देह सामने श्रा गयी। बोझल देह, कामदार वास्कट, खिचड़ी दाढी श्रौर सिर पर ऊँची दीवार की सिलमे-सितारे वाली टोपी पहने हुए थे—कलुवे के बच्चे, तेरी चमडी उधेड दूंगा। इस वक्त हल्ला करता है। यह हल्ला करने का वक्त है? मियांजी चबूतरे पर खड़े बोले जा रहे थे, श्रशरफ से कह कोठरी पर ताला चढा दे, लौडिया को ऊपर ले जा। श्रन्दर से लोटा उठा ला, मैं नमाज पढने जा रहा हूँ।

कलुवा लपककर श्रन्दर चला गया। चबूतरे पर खडे मियांजी किसी बादशाह की तरह ठुड्डी ऊँची उठाये दूर-दूर तक श्रांगन के चारों श्रोर देख रहे थे। यह उनकी रियासत थी। हुकूमत हो तो श्रपने-श्राप चेहरे पर रोश्राब श्रा जाता है श्रौर श्रांखों में दूरी श्रौर बड़प्पन का भाव तैरने लगता है।

कलुश्रा श्रन्दर से वुजू करने का टोंटीदार लोटा उठा लाया श्रौर मियांजी श्रासपास खड़े लोगों को तैरती नजर से देखते हुए, लोटा हाथ में लेकर धीरे-धीरे बायें हाथ की गली की श्रोर घूम गये।

लोग छितरने लगे, कुछ एक श्रभी भी टकटकी लगाये बन्द दरवाजे की श्रोर देखे जा रहे थे जिसके पीछे से रोने-सिसकने की श्रावाज श्रा रही थी।

-कुछ लोग फिर से अलावों के पास जा बैठे···

चकले में जगह-जगह तमाशबीनों की गाँठें बन-खुल रही थी। दायीं ओर वाली जगमगाती गली में मनचले रंडियों को आवाज़ें कसते, उनके साथ हँसी-मज़ाक करते टहल रहे थे। जहाँ कहीं हल्का-सा शोर होता, लोग पहुँच जाते। छोटी-सी भीड़ बन जाती। कोठरियों के दरवाजे खुलते-बन्द होते। कुर्सियों पर बैठी रंडियाँ कभी उठकर अन्दर चली जाती, कभी पसीना पोंछती कुरसी पर आकर बैठ जाती। चकला पूरे जोबन पर था। एक ऊँची, लम्बी गदराये शरीरवाली रंडी, सलवार-कमीज़ पहने, इठलाती हुई आँगन की ओर से गली की रोशनी में आ रही थी। होंठों पर अलसायी-सी मुसकान और उनींदी जवानी में डूबी आँखें, कलायी पर चमेली के फूलों का गजरा लटक रहा था। रंडियों की मलिका लग रही थी। चकले की रानी। उसके साथ-साथ एक बाँका जवान तरहदार काली वण्डी और चूड़ीदार पाजामा पहने, हाथ में पतला-सा बेंत उठाये चला आ रहा था। दोनों के बीच चुहलबाज़ी चल रही थी। युवक बार-बार आगे बढ़कर रंडी के गाल चूमने की कोशिश करता और हर बार ही रंडी हँसकर मुँह फेर लेती और फिर लपककर कभी उसके हाथ की घड़ी छीनने लगती, कभी उसकी टोपी पर झपटती। बाँका कोई अमीरजादा जान पड़ता था क्योंकि उसके पीछे-पीछे चकले का दलाल-सा लगनेवाला एक आदमी 'जी-हुज़ूरी' में चला आ रहा था मानो अपना माल पसन्द करवा रहा हो। शायद रईसजादा रंडी को अपने घर ले जाना चाहता था।

तभी किसी औरत के चिल्लाने की आवाज़ आयी। गली में बायीं ओर, तीसरी या चौथी कोठरी के सामने चबूतरे पर खड़ी ऊँचा-ऊँचा बोले जा रही थी—साथवालियों के तीन-तीन हो लिये इस बीच, और यहाँ हरकत ही नहीं है। हम रात-भर इन्तज़ार करते रहें। जाओ यहाँ से।

चबूतरे के नीचे गोरे रंग का एक फौजी युवक खड़ा झेंप रहा था। रंडी उसी पर बरस रही थी। पलक मारते ही वहाँ भी तमाशबीन इकट्ठे हो गये। फौजी युवक की नज़र ऊपर उठने में ही नहीं आती थी। हल्की-हल्की मसें उसके होंठों पर फूट रही थीं···पहली बार चकले में आया जान पड़ताथा।

—हो जाता है, ऐसा हो जाता है, एक तमाशबीन सिर हिला-हिलाकर दार्शनिकों की तरह कहने लगा—घबड़ा गया है। ऐसा हो जाता है। तुम

इसके पैसे लौटा दो।

इस पर रंडी का पारा चढ गया—क्यों लौटा दूं ? साथवालियों के इस बीच तीन-तीन हो गये, हमारा वक्त बर्बाद किया, हम पैसे लौटा दें ? जाये, माँ की गोद मे जाकर बैठे, यहाँ आया ही क्यो था ?

—ऐसे लौंडे कहाँ मिलते हैं। मनचले ने फिर चुटकी ली, देख तो कितना गोरा-चिट्टा है !

—गोरा-चिट्टा है तो इसे ले जा अपनी बहिन के पास।

—मान जा, मान जा, इसे एक टराई और लेने दे।

—पैसे फिर से लायें और टराई ले ले।

—जा बेटा जा, टराई ले ले ! भीड़ मे से मनचला बोला और युवक को चबूतरे की ओर धकेलने लगा। पर वह पत्थर बना खड़ा था ! जमीन पर से न तो उसकी नजर उठती थी, न पांव उठते थे। रंडी बड़बड़ाती हुई अपनी कुर्सी पर जा बैठी। वक्त जाया हो जाने पर वह बौखलाई हुई थी। पर देखते-ही-देखते उसके चेहरे का भाव बदल गया। सामने से जाते हुए आदमी को देखकर वह मुसकरायी, उसकी आँखें चमकने लगी, उसने हल्के-से गर्दन हिलाई और आदमी को अपनी ओर बुलाया। आदमी उसकी ओर देखता हुआ आगे बढ़ गया तो रंडी के चेहरे पर से लुभावना मुखौटा फट से उतर गया और चेहरे पर वही खिन्नता और क्षोभ झलक आये और फिर से बड़बड़ाने लगी—पूरी शाम खा गया हमारी। हम शरीफ है, नही जूते मारकर निकाल देते।

और तभी वह अपने चेहरे को हवा करती हुई फिर से मुसकरा उठी और आगे बढ़कर राह चलते एक आदमी का हाथ पकड़ लिया, जो क्षण-भर के लिए उसके सामने ठिठका था, और हौले-हौले उसका हाथ सहलाने लगी—आओजी, आओ तो। सोच क्या रहे हो, बहुत सोचा नही करते।

आदमी अधेड़ उम्र का था और असमंजस मे था कि उसकी कोठरी मे जाय या न जाय। पर रंडी बराबर उसका हाथ सहलाये जा रही थी—इतनी देर मे तो काम खतम भी हो जाता। आओ ना।

बाबू कुछ बुदबुदाया।

—अजी, तुम आओ तो, दो रुपये दे देना। बस। अच्छा तुम क्या दोगे ?

बाबू नही माना।

—बोलो तो, तुम क्या दोगे ?

बाबू फिर भी कुछ नहीं बोला तो रंडी ने झट से उसका हाथ झटक दिया—जाम्रो, माँ के'''और फिर कुर्सी पर सीधी होकर बैठ गयी और बौखलाने, बड़बड़ाने लगी। उसकी आँखें फिर से किसी सम्भावित ग्राहक को खोजने लगीं।

तभी उसके साथवाली कोठरी का दरवाज़ा खुला। रंडी ने उस ओर देखकर मुँह फेर लिया। पर थोड़ी देर बाद तक भी जब कोठरी में से न हमसाइन निकली, न ग्राहक, तो उसने शंकित-सी नज़र में फिर कोठरी की ओर देखा।

—क्या है, मोतिया? और उठकर कोठरी की दहलीज़ पर जा खड़ी हुई। कोठरी के अन्दर ग्राहक और रंडी दोनों एक-दूसरे के सामने खड़े एक-दूसरे को घूरे जा रहे थे। ग्राहक लम्बी दाढ़ीवाला कोई सरदार था। खुली कोठरी के अन्दर उन्हें खड़े देखकर धीरे-धीरे राह जाते लोग रुकने लगे। दोएक चबूतरे पर चढ़ गये। सरदारजी कन्धे पर अपना कोट लटकाये हुए थे और दायें हाथ से उसकी जेबें टटोलते हुए कह रहे थे—इधर अन्दर की जेब में थे, दस-दस के दो नोट थे। हमारे नोट दे दो, नहीं तो हम पुलिस बुलायेंगे।

—हमारे पास कहाँ से आये तुम्हारे पैसे? रंडी कमर पर हाथ रखे बोल रही थी—हमारे पास वही कुछ है जो तुमने दिया था।

लोगों के आ जाने से सरदारजी को झेंप होने लगी थी, मगर बीस रुपये का नुकसान वह झेंप के कारण उठा नहीं सकते थे। वही मनचला जो गोरे फौजी की तरफदारी करता रहा था, घूमता-घुमाता यहाँ भी पहुँच गया था—क्या बात है सरदारजी?

—मैंने कोट उतारकर खाट के सिरहाने रखा था। अब उठाकर पहना है तो इसमें दस-दस के दो नोट नहीं हैं। इसी ने निकाले हैं, और कौन निकालेगा!

—दे दे भाई, दे दे। मनचला बोला—यों खाट के सिरहाने कोट नहीं रखना चाहिए, पायताने रखना चाहिए।

—निकाल मेरे पैसे, नहीं तो मैं पुलिस को बुलाऊँगा।

ज्यों-ज्यों लोग इकट्ठे होते जा रहे थे, सरदार झेंपता जाता था, और बार-बार पुलिस को बुलाने की धमकी दे रहा था।

—बत्ती जल रही थी या बुझी हुई थी? मनचले ने पूछा। इस पर कुछ

लोग हँसने लगे।

जवाब रंडी ने दिया—हमने बुझाई थी बत्ती। एक रुपल्ली में रोशनी क्यों रखें?

मनचला सरदारजी को नसीहत करने लगा था—यहाँ ज्यादा पैसे लाना ही भूल थी। बस, दो या तीन रुपये लाने चाहिए। अब यह बीस तो गये। यह रंडी के लिए तो नही थे ना, यह तो बाल-बच्चों के लिए थे।

सरदार भांप गया कि मनचला उसका मज़ाक उड़ा रहा है। अब बहुत-से लोग चबूतरे पर चढ़ आये थे और झांक-झांककर अन्दर देख रहे थे—तलाशी ले लो सरदारजी। इस पर औरत बोली—ले ले तलाशी। यही कुरता हमने पहन रखा था, देख लो जेब इसकी।

सरदार ने आगे बढ़कर दोनों जेबें टटोल लीं।

—मुझे क्या मालूम कहाँ रखे हैं।

—छातियों के बीच छिपा रखे होंगे।

रंडी अभी भी कमर पर हाथ रखे सरदारजी की ओर घूरे जा रही थी। इस पर दहलीज़ पर खड़ी उसकी हमसाइन बिफर उठी—निकलो यहाँ से, दाढ़ीजार—बड़े तलाशी लेने आये। कौन लेगा तलाशी, मैं भी सुनूं? जा बुला ला पुलिस को। पुलिस के बाप को भी बुला ला।

तमाशबीनों की अच्छी-खासी भीड़ लग गयी थी। सरदार को विश्वास हो गया था कि रंडी ने उसके दो नोट छातियों के बीच छिपा रखे हैं।

—मैं उसके कपड़े उतरवाऊँगा। मैं पुलिस बुलाऊँगा।

—हैं, दाढ़ीजार, कपड़े उतरवायेगा। सरम नही आती। जा, बुला ला पुलिसवाले को। जा, देखता क्या है?

तमाशबीनों की अच्छी-खासी भीड़ लग गयी थी, तभी दूसरे छोर से एक और सरदार गली में टहलता हुआ इधर आ निकला और भीड़ को देखकर रुक गया। फिर चबूतरे पर चढ़ गया और झांककर सहसा बोल उठा—ओ गण्डासिंह, की गल्ल ऐ?

कोठरी में खड़े सरदार ने आवाज़ सुनी तो वह चौंक उठा। घूमकर भीड़ की ओर देखा और पानी-पानी हो गया और बगलें झांकता हुआ कोठरी में से बाहर निकल गया।

—ओ की गल्ल ऐ, असी मदद करिए, गण्डासिंह?

पर सरदार नज़र झुकाये भीड़ में से अपना रास्ता बना रहा था।

—ओ तू इत्थे की कान डियाँ एँ ?

सरदार चबूतरे पर से उतरने लगा था जब उसके परिचित ने उसे बाँह से पकड़ लिया।

—ओ बोल ताँ गण्डासिंह, की गल्ल ऐ ?

गण्डासिंह ने सिर उठाया, बात टालने के स्वर मे बोला—ओ मैं इधर कम्म ग्राया सी···

इस पर उसका परिचित मज़ाक के लहजे मे बोला—कम्म ग्राया सी ! फेर ! कम्म हो गया ? कहकर हँसने लगा।

सरदार चुप, बुत का बुत बना खड़ा रहा।

—ओ बोल ताँ, कम्म हो गया ? जां असी मदद करिए ?

पर सरदार पिण्ड छुड़ाने की कोशिश कर रहा था—ओ गण्डासिंहा, शरमावदा क्यों एँ ? असी वी ता एत्थे कम्म ई करन ग्राये हाँ।

इस पर ठहाका उठा। इस बीच गण्डासिंह वहाँ से निकल गया। फिर पूछताछ करने पर जब पता चला कि गण्डासिंह के बीस रुपये खो गये है तो रंडी को मुखातिब करके बोला—ओ तीवी, तैं पैसे ता लै लये साडे यार दों, असी ग्रा जइए ?

लोग हँसते-मज़ाक करते चबूतरे पर से उतरने लगे। रंडी कोठरी के बाहर ग्राकर कुर्सी पर बैठ गयी ग्रौर मुँह फेरकर दूसरी ग्रोर देखने लगी।

गली में तमाशबीनो की सख्या ग्रधिक थी, ग्राहकों की कम। ग्राये ज्यादातर लोग मनबहलाव करने, ग्रावाजें कसने के लिए थे। रंडियाँ एक-एक ग्राहक से जैसे जूझ रही थी। इस सारी बेपर्दगी ग्रौर झुँझलाहट के बावजूद उनकी ग्राँखें सम्भावित ग्राहकों को खोजती रहीं, कोई नज़र ग्राता तो झट से चेहरे पर मुस्कान ग्रोढ लेती, लुभावने इशारे करने लगती, उनके चेहरों से लगता जैसे ग्राहकों से भी कही अधिक ये वासना में अधीर हुई जा रही हैं। ग्राहक उपेक्षा में ग्रागे बढ जाता तो इनके चेहरे पर से मुखौटा उतर जाता, चेहरे पर वितृष्णा, थकान उभर ग्राती, ग्राँखों की चमक बुझ जाती, होठ सिकुड जाते ग्रौर रंडी मुँह में से पान की पीक थूक देती।

गली के सिरे पर फिर रोशनी कम हो गयी थी। यहाँ से बायी ग्रोर एक ग्रौर गली निकल गयी थी जिसमे रोशनी बहुत कम थी, पर सारी गली रंडियों से भरी थी। रंडियाँ चबूतरे पर दो-दो-तीन-चार की टोलियों

मे बैठी थी।

एक रंडी कोठरी के सामने गली मे खडे एक आदमी से उलझ रही थी। इस बीच वही चपरासी और उनका साथी कहीं मे चलते हुए उस गली मे आ निकले थे। चपरासी को देखकर रंडी ने गली मे खड़े आदमी के साथ उलझना छोड दिया और मुसकराती, इशारे करती, चपरासी को अपनी ओर बुलाने लगी।

—अरी वह जो है, जिससे बातें कर रही है। चपरासी ने व्यंग्य से कहा।

—अरे, यह तो हमारा भाई है, रंडी ने कहा और गली मे खडे अपने भाई से गुस्से से राजस्थानी मे कुछ कहा। फिर अपनी चुन्नी की चूक दाँतों से खोलकर उसकी ओर एक रुपया फेंक दिया और भाई ने लपककर रुपया उठा लिया और वहाँ से चलता बना।

इस बीच चपरासी और उसका साथी भी आगे बढ़ गये।

यहाँ रोशनी कम थी और चीथड़ों और सड़ाँध का भास होने लगा था। यहाँ पर भी लोग जैसे चीलो की तरह मँडरा रहे थे। दायें हाथ एक लम्बा चबूतरा था, लगभग तीन फुट ऊँचा, बायी ओर कोई चबूतरा नही था। कहीं चबूतरे पर तो कही गली में बूढ़ी औरतें, गाढे की चादरें लपेटे, बैठी आग ताप रही थी।

चबूतरे पर एक कोठरी के सामने खाट बिछी थी जिस पर एक नन्हा-सा बच्चा पड़ा रो रहा था, और हाथ-पैर पटक रहा था। पीछे कोठरी का दरवाज़ा बन्द था। तभी कोठरी के भीतर से चिल्लाती हुई-सी आवाज़ आयी—ओ बसन्ती, इसे सँभालियो, मेरे पास मर्द है!

कोठरी की दरारों मे से आवाज आयी थी। अँधेरे में गली के पार वाली कोठरी में से एक काली-सी रंडी उठी और चबूतरे पर चढकर बच्चे को गोद मे ले लिया और गली की ओर पीठ करके खाट पर बैठ गयी। तमाशबीन गिद्धों की तरह यहाँ भी इकट्ठे होने लगे।

—थोड़ा हमे भी पिला दे, एक ने आवाज कसी, झूठ-मूठ का ही सही! हम भी तेरे बच्चे हैं।

काली-कलूटी ने बैठे-बैठे ही घूमकर कहा—घर मे बच्चे नही हैं तुम्हारे, यहाँ भी हरामी भीड जमा रहे है। और चबूतरे पर थूक दिया।

—अरी किसका है? किसी ने पूछा।

—अजी, यह तो मेरी औलाद है, एक बड़ी-बड़ी मूछोंवाला बोला, क्यों बेटा, बाप को पहचानता है ?

—यह भी हरामी का पिल्ला है, तू भी किसी हरामी का पिल्ला होगा, काली-कलूटी ने बैठे ही बैठे कहा और हँस दी।

इतने मे कोठरी का दरवाजा खुला और बच्चे की माँ गालियाँ बकती, चिल्लाती बाहर निकल आयी।

—दाढीजार, हरामी की औलाद !

—क्यों री चमेली, क्या हुआ ?

—दाढीजार ने कै कर दी खाट पर, सारा बिस्तर गन्दा कर दिया है। मुए सराब पीकर आ जाते है।

—क्यों ले गयी थी उसे ? काली-कलूटी बोली, अब निकाल तो दे उसे कोठरी में से, नही तो वही पडा-पडा सो जायेगा और तेरी साम निकल जायेगी।

चमेली के दायें कन्धे पर और छाती पर कै बह रही थी जिसे पोछ पाने के लिए वह कोई चिथडा ढूंढ रही थी।

—बुला, बुला कलुवे को। एक बार सो गया तो रात-भर नही निकलेगा।

चमेली कै से सनी कमीज़ को बार-बार अपने शरीर से अलग रखने की चेष्टा कर रही थी।

—अपनी पुरानी कथरी दे दे। सुबह दे दूंगी तुझे। सारा बिछावन गन्दा कर दिया है।

उधर से अचानक मियांजी आ निकले थे। नमाज़ पढने के बाद इस ओर से लौट रहे होंगे। वही ऊँची दीवारवाली सलमे-सितारे की टोपी, वही रोबदार चेहरा, अपनी अमलदारी का दौरा करने निकले थे। पीछे-पीछे कलुवा तहमत बांधे और इस जाड़े मे भी एक बनियान लगाये चला आ रहा था। मियांजी आगे बढ गये मगर कलुवे को काली-कलूटी ने रोक लिया—देख तो कलुवा, चमेली की कोठरी मे एक सराबी औंधा पड़ा है। निकाल तो उसे।

—इतना हल्ला क्यों मचा रखा है ? सराब ही पी है, कोई दंगा-फिसाद तो नही किया। शराब पीकर यहां नही आयेगा तो कहां जायेगा ?

और बड़े आराम से कलुवा चबूतरे पर चढ़ गया और थोड़ी ही देर मे

अपना दायाँ बाजू शराबी ग्राहक की बगलों के नीचे देकर उसे घसीटता हुआ बाहर ले आया। शराबी के पैर फर्श पर कभी आगे को पड़ते, कभी घिसटने लगते। उसके लम्बे-लम्बे बाल माथे पर गिर रहे थे। चबूतरे की सीढ़ी पर उसे पटककर कलुवा आगे बढ़ गया और शराबी वहीं चबूतरे के नीचे नाली पर झुककर बैठ गया।

उसके पीछे-पीछे चमेली अपना बिछावन उठा लायी और एक कोने में फेंक दिया—कल धोऊँगी, हरामी, सुअर की औलाद···

और हमसाइन की कोठरी में से कथरी उठाने चली गयी। थोड़ी देर बाद वह कुर्ता बदलकर बाहर आ गयी और कुर्सी पर जा बैठी और सामने खड़े एक भारी-भरकम आदमी को देखकर झट से मुसकराने लगी।

—आओ बाबू, आओ, उसने मुसकराकर कहा, फिर आँख का इशारा किया—आओ जी, मीठी-मीठी बातें करेंगे। दूर क्यों खड़े हो बाबू, इधर तो आओ, प्यार-मुहब्बत की बातें करेंगे···

काली-कलूटी बच्चे को सुलाकर उठ गयी थी और उसके जाते ही बच्चा फिर से रोने-चिल्लाने लगा था।

मोटा आदमी चमेली की ओर देखे जा रहा था और तोंद खुजलाये जा रहा था। *उसकी साँस धौंकनी की तरह चल रही थी, मोटे-मोटे होंठ खुले थे। तोंद खुजलाना छोड़ उसने मुँह पर हाथ फेरा; तीन दिन की दाढ़ी पर हाथ चलाने में रेगमाल घिसटने की-सी आवाज आयी। चमेली अभी भी* उससे आँखें मिलाये हुए थी—आओ जी, आओ ना, तुम्हें बलराऊँगी, *आओ ना, मीठी-मीठी बातें करेंगे···*

तभी वह सहसा झुँझला उठी। कुछ ही दूर चबूतरे के नीचे रखी *सिगड़ी में से धुआँ उठने लगा था* और धुआँ उसी की ओर आने लगा था जिससे मोटे बाबू को खाँसी आ गयी थी और वह खाँसता हुआ एक ओर *को हट गया था।*

—हजार बार मने किया दादी, इधर सिगड़ी मत जलाया कर, मगर तू सुनती ही नहीं। एक दिन मैं तेरी सिगड़ी उठा के फेंक दूँगी।

चबूतरे के नीचे, चमेली की कोठरी के ऐन सामने जमीन पर बैठी एक बुढ़िया आग ताप रही थी। शायद बुझती आग में उसने गोल लकड़ी के टुकड़े डाल दिये थे, या जाने क्या था, सिगड़ी में से धुआँ उठने लगा था।

—हजार बार कह चुकी हूँ, इधर नहीं बैठा कर, सारा वक्त बैठी धुआँ

उड़ाती रहती है।

बुढ़िया अपने कन्धों के इर्द-गिर्द गाढ़े की चादर लपेटते हुए आग के और पास सरक आयी और अपनी खरज, खोखली आवाज में बोली—ऐसा हड्डियों में जाडा घुस गया है, रात-भर लगता है, ठण्डे पानी मे पड़ी हूँ। और पास मे रखी लकड़ी की खपच्ची उठाकर आग को कुरेदने लगी—अभी धुआँ छँट जायेगा।

थोडा कुरेदने पर आग भड़क उठी, पर ग्राहक जा चुका था। बुढ़िया फिर बुदबुदायी—कोयला डालें तो कलुवा विगड़ता है, हम थोडा चाहती हैं इधर धुआँ हो।

—तू कल से इधर न बैठा कर बस, बोल दिया। आगे कही जा के बैठ, नही मैं सिगड़ी उठा के फेंक दूँगी।

चमेली अभी भी कमर पर हाथ रखे बोल रही थी।

—अरे तू बडी आयी हमे यहाँ से हटानेवाली ! चुड़ैल कही की, बुढ़िया बिफरकर बोली, हमने इस कोठरी में चालीस साल काटे हैं। आज तेरी कोठरी बन गयी !

लोग यहाँ भी इकट्ठे होने लगे तो बुढ़िया की जवान ज्यादा खुलने लगी—हमने हजारों कमाये है यहाँ बैठ के। चकले मे सारा वक्त हीराबाई-हीराबाई होती थी। तीन-तीन कत्ल हुए हैं हम पर। बडी आई हमे उठाने वाली। चुड़ैल की सूरत तो देखो। टके-टके के आदमी आते है तेरे पास।

—बैठती थी तो बैठती थी, अब तो हम यहाँ बैठी हैं। उठ जा यहाँ से, मैं कहती हूँ।

यही बैठूँगी, उठवा तो कैसे उठवाती है ? बुला अपने यारो को। मैं भी देखूँ। टाँगें नही तोड दूँ तो। हरामजादी। बड़ी आयी। बाल कन्धो पर फैला लिये तो हसीना बन बैठी। हम भी यहाँ घण्टे-भर से बैठी हैं। कोई लँगड़ा-लूला नही आया तेरे पास।

—तू चुड़ैल जो इधर बैठी है, रास्ता रोके। मौसी, इसे कह दो, अब मैं नही सुनूँगी।

चमेली ने एक और बुढ़िया को सम्बोधन करके कहा।

इस पर मौसी, बुढिया को समझाने लगी—तू ही मान जा, बैठना है तो उधर मैदान मे चली जाया कर।

—वहाँ ठण्डी है। इधर हवा कमती है। और अब कोई धुआँ है ?

चमेली चिल्लायी—इधर रास्ता रुकता है।

इस पर बुढ़िया फिर बिगड़ उठी—अजी बडी आयी, तेरे पास कोई आये तो रास्ता रुके। घण्टे-भर से तो हम यहाँ बैठी है, एक खोटी चवन्नी का गाहक भी नही आया। हम भी कभी थी इसी कोठरी में। ताँता लगा रहता था सारा वखत। तीन-तीन कतल हो चुके हैं हम पर।

—तीन-तीन कतल हुए हैं तो अब कहाँ हैं यार तेरे? हमी से माँगकर खाती है। बहुत नही बुलवा हमसे।

बुढिया बडबड़ाती हुई उठी और कन्धो पर चादर लपेटती हुई, सर्दी के कारण उकड़ूँ हुई, बड़बडाती हुई गली में आगे बढ गयी। उसके चले जाने पर चमेली ने आग मे थूका और वापस लौट आयी।

रात गहराने लगी थी और चकले की चहल-पहल धीरे-धीरे शिथिल पड़ने लगी थी। चिल्लाती रण्डियाँ, आवाजें कसते मनचले, अब जैसे थकने लगे थे, चकले के बाहर कोठों पर गाना-बजाना अभी भी चल रहा था और संगीत की तैरती हुई धुनें यहाँ भी सुनायी देने लगी थी। मैं फिर से खुले आँगन के सामने खड़ा था। जगह-जगह जमीन पर बैठी आग तापती बूढ़ी रण्डियों के अलाव ठण्डे पड़ने लगे थे। उपले, खपच्चियाँ, रद्दी कागज, इन्ही को बटोर-बटोरकर अलाव जलते रहे थे। कहीं-कहीं कोई रण्डी अपनी कोठरी के सामने अपना बिछावन झाड़कर रात के सोने की तैयारी कर रही थी और बार-बार जम्हाइयाँ ले रही थी। कोई चबूतरे पर खड़ी हाथ में पानी का लोटा लिये कुल्ले कर रही थी। बहुत-से ग्राहक छँट चुके थे और चकले पर एक तरह का सूनापन उतर आया था। पिछली गली के सिरे पर नानबाई की दूकान थी जहाँ गैस का लैम्प जल रहा था। एक-एक तश्तरी में दो दो रोटियाँ और सालन की प्लेट रखे, नानबाई का नौकर जगह-जगह रण्डियों की कोठरियो के सामने, तश्तरियाँ रखता आगे बढ रहा था। जगह-जगह बिजलियाँ बुझ रही थी। अँधेरे का बोझ किसी तीखी सड़ाँध से मिलकर चकले पर उतरने लगा था। आँगन में अब कुत्ते घूमने लगे थे, शायद इस कारण कि कहीं-कहीं पर रण्डियाँ अब खाना खाने बैठ गयी थी।

नानबाई की दूकान के सामने से गुजरते हुए सहसा एक ठण्डी सनसनाती-सी लहर मेरे शरीर में दौड़ गयी। यहाँ पर भी एक औरत थी। घुटनों तक लम्बा कुर्ता पहने, और बाल उलझे हुए और धूल से अँटे। उम्र

की जवान थी पर उसकी टेढी-सी आँखों से लगता था नीमपागल है। नानबाई की गली की ओर पीठ थी पर उसका कारिन्दा 'खी-खी' करके हँस रहा था। दूकान पर दो-तीन फटीचर-से आदमी बैठे खाना खा रहे थे।

—और पैसे लेगी? नानबाई के कारिन्दे ने कहा।

इस पर पगली बिना कुछ बोले आगे को झुक आयी, दोनों हाथो से अपने कुर्ते के अगले भाग को नीचे से पकडकर ऊँचा उठा दिया। पगली नीचे से नंगी थी। नानबाई का नौकर 'खी-खी' करके हँस दिया और जेब में से एक सिक्का निकालकर उसकी ओर फेंका। दूकान पर बैठा एक और आदमी भी हँस दिया, जब कि एक दूसरे आदमी ने 'हाय अल्लाह!' कहा और मुँह दूसरी ओर फेर लिया। पगली कुर्ते को छोडकर जमीन पर से सिक्का उठाने के लिए लपकी।

—भाग जा, भाग जा, अब और पैसे नही मिलेंगे, नानबाई ने कहा।

पर पगली ने फिर एक बार कुर्ता उठाया, पर सिक्का न मिलने पर कुर्ता गिरा दिया और पनवाड़ी की दूकान की ओर भाग गयी।

मैं फिर से रेलवे यार्ड की लम्बी दीवार के साथ-साथ पाँव घसीटता चला जा रहा था। सड़क के पार दूकानें बन्द हो चुकी थी, हाँ, चौबारों में से छन-छनकर आती रोशनी के साथ-साथ संगीत की धुनें अभी भी हवा मे तैरती चली आ रही थी। दो-एक जगह पर अभी भी कोठों के नीचे फूलों के गजरे बेचनेवाले और गानेवालियों की ओर से न्योता देनेवाले दलाल घूम रहे थे।

तभी किसी रण्डी के गाने की आवाज हवा को चीरती हुई सुनायी दी—

अभी तो मैं जवान हूँ!

अभी तो मैं जवान हूँ!

हफीज जालन्धरी की गज़ल थी, जिसे लड़की अपनी खरज, घिसी-पिटी आवाज मे गाये जा रही थी—

अभी तो मैं जवान हूँ।

और साथ ही सुननेवालों की 'वाह-वाह' का एक बादल-सा उठा और मैं आगे बढ़ गया था। कुछ दूर तक उसकी आवाज बराबर मेरा साथ देती रही। फिर चकले के वायुमण्डल मे एक सिसकी की तरह खो गयी।

●

रास्ता

गोबिन्दमां को किस रास्ते जाना चाहिए था, यह बड़ा असंगत सवाल है। आपके पास हैं ही कितने रास्ते जिन पर कोई इन्सान चल सके ? एक ही रास्ते पर इन्सान चलता है और वह है उसकी अन्दर की मजबूरी का रास्ता, जब वह किसी तड़प के बल पर या किसी भूख के बल पर किसी रास्ते हो ले या फिर वह रास्ता जिस पर उसे ढकेल दिया जाय। कभी ठण्डे दिल से भी किसी ने रास्ता चुना है ? इन्सान रास्ता चुनता ही कहां है, वह तो केवल चलता है। जो लोग रास्ते सुझाते है, या रास्ते चुनते है—दम्भी, छिद्रान्वेषी लोग—वे अवसर चलते नहीं। कभी-कभी तो सोचता हूँ कि रास्ता या दिशा नाम की कोई चीज है भी या नही।

इस समय गोबिन्दमां कहां है और किस ओर चल रही है, मैं नही जानता। हमारी गली का मोड हमारे लिये क्षितिज है, जो घर मे से निकलकर गली का मोड काट गया, वह क्षितिज के पार चला गया। बाहर दूर-दूर तक झुटपुटा है और झुटपुटे मे लाखों-करोड़ों लोग जैसे डूब-उतरा रहे हैं। गोविन्दमां इसी झुटपुटे में से निकलकर आयी थी और कुछ दिन के लिए हमारे घर की दहलीज पर डोलती रही थी। कभी लगता था अन्दर आ जायेगी, कभी लगता उधर से पीठ मोड लेगी और गली का मोड़ काट जायेगी। और वह एक दिन गली का मोड काट गयी थी। क्या मालूम वह इस वक्त कीच से लथपथ, छिछले जल मे कही औंधे मुंह गिरी पड़ी हो। शायद हमारी नैतिक भावना चाहती भी यही है कि वह वही पडी-पडी डूब जाय ताकि हम कह सकें—देखा, हमने कहा था न, हुई न वही बात !

हमारे लिए गोबिन्दमाँ परछाईं-सी बन गयी है। उसकी आकृति का भान कभी-कभी होता है। कभी-कभी उसकी धीमी-सी हँसी भी सुनायी देती है, जैसे वह अब भी मेरी पत्नी को आश्वासन दे रही हो, 'सब ठीक हो जायेगा।' फिर उसकी टुनकती-सी हँसी और उसकी आवाज़ उतनी ही जल्दी शान्त भी हो जाती है, मूक दीवारों की निस्तब्धता में खो जाती है।

"टिकेगी," पत्नी ने कहा था, "बदनसीब औरत है, टिकेगी।"

बदनसीबी के अलावा गोबिन्दमाँ के घर मे टिकने के सभी लक्षण मौजूद थे—अकेली थी, दो अक्षर पढ़ी हुई थी, दक्षिण की होने के कारण आसपास के लोगों को नही जानती थी, बायाँ पैर घसीटकर चलती थी—शायद अवचेतन में कही, उसके सभी निर्णय उसका घिसटता पाँव ही करता था।

घर मे आने के कुछ ही दिन बाद पत्नी से बोली :

"माँ, तुम्हे बुरा लगे, अगर मेरा कोई दोस्त हो ?"

तभी हमारी नैतिक भावना को जैसे चाबुक लगी थी। और कभी फुस-फुसाकर तो कभी उसकी एक-एक गति की ओर घूरकर देखते हुए हम उसे अपनी नैतिकता की तराजू पर तौलने लगे थे।

गोबिन्दमाँ का एक अतीत भी था जहाँ वह प्राइमरी स्कूल की मामूली-सी अध्यापिका हुआ करती थी और स्कूल की खिड़की में से किसी ब्राह्मण युवक के आने की राह देखा करती थी। प्राइमरी स्कूल के पिछवाड़े, और कस्बे के ताड़ के झुरमुट के नीचे खड़ी गोबिन्दमाँ, बालों में फूल लगाये, काली-कलूटी गोबिन्दमाँ उसे भी सिर हिला-हिलाकर और हँस-हँसकर यही आश्वासन दिया करती थी :

"कुछ नही होगा, कुछ नहीं होगा, तुम तनिक भी चिन्ता नही करो।"

पर बहुत कुछ हुआ, यहाँ तक कि गोबिन्दमाँ का बायाँ पैर भी घिसटने लगा, उसे गर्भ भी हुआ, और वह अपना कस्बा छोड़कर मद्रास भी गयी, दर-दर की खाक छानते हुए वह दिल्ली भी पहुँची। वह युवक तो वर्षों पहले कहीं चला गया है, लेकिन गोबिन्दमाँ की आँखों में एक चमक-सी छोड़ गया है। जब भी गोबिन्दमाँ उसका नाम लिया करती उसकी आँखों में चमक आ जाती, जैसे किसी लौ की झाईं उसमें पड़ने लगी हो और वह मेरी पत्नी से कहती :

"माँ, वह बहुत अच्छा था, वह किसी का बुरा नहीं चेतता था, वह

बहुत अच्छा था···।"

"वह अच्छा था तो अब कहाँ है ? तेरी सुध क्यों नहीं लेता ? अपने बेटे की सुध क्यों नहीं लेता जो अनाथालय में पड़ा सड़ रहा है ?" गोविन्दमाँ कोई जवाब नहीं दे पाती, चुपचाप पत्नी के मुँह की ओर देखती रहती है, पर उसकी आँखें ज्यों-की-त्यों चमकती रहती हैं।

क्या जिन्दगी मे घटनाएँ किसी क्रम में घटती हैं ?—पहले क्या हुआ और बाद मे क्या हुआ, क्या यह सब असंगत नहीं है ? जीवन की घटनाएँ काठ के टेढ़े-मेढ़े टुकड़ों की तरह बिखरी पड़ी रहती है। ये पहले और पीछे के क्रम मे नहीं जुड़ती, पर ये जुड़ती जरूर हैं और धीरे-धीरे प्रत्येक *व्यक्ति का जीवन एक स्वर-रचना का रूप ग्रहण करने लगता है* और उसके चरित्र का मूल स्वर उस रचना का मूल स्वर बनता चला जाता है—इसी मूल स्वर में से सभी स्वर-लहरियाँ फूटती है, कभी अन्धड़ो की, कभी हँसी की, कभी चीत्कार की !

मैं नहीं जानता गोविन्दमाँ के बेटा कब हुआ था, उस ब्राह्मण द्वारा त्याग दिये जाने के फौरन बाद या पहले ? और उसका पैर कब घिसटने लगा था ?···

गाड़ी दहाड़ती हुई आगे बढ़ी जा रही थी और गोविन्दमाँ और उसका ब्राह्मण प्रेमी डिब्बे के एक कोने मे दबकर बैठे कस्बे से दूर भागते जा रहे थे। गोविन्दमाँ आश्वस्त थी, अपार आनन्द में डूबी, जब कि ब्राह्मण युवक की आँखें सतर्क और खिची-खिची प्रत्येक आने-जानेवाले मुसाफिर की ओर लपक-लपककर देख रही थीं। ब्राह्मण का दिल किसी-किसी वक्त डोलने लगता तो गोविन्दमाँ हँसकर कहती—

"तुम चिन्ता नहीं करो जी, यदि किसी ने पकड़ लिया तो कह देना तुम्हें मैं खीचकर लायी हूँ, सारा दोष मुझ पर डाल देना।" और उसकी आँखें चमकने लगती। तब नयी-नयी चमक गोविन्दमाँ की आँखों मे आयी थी।

इधर गाड़ी प्रेमियों को लिये भागी जा रही, उधर कस्बे में, आँगन की दीवार के साथ खड़ी लड़की की माँ सिर धुनती हुई और अपने पेट पर बार-बार हाथ रखती हुई पड़ोसिनों से चिल्ला-चिल्लाकर कहे जा रही थी, "पेट गन्दा निकला है, मेरा पेट गन्दा निकला है। *किसी का दोष*

नही, पेट गन्दा निकला है !"

और बालिश्त-भर आँगन में खाट डाले खाँसता-खँखारता हुआ गोबिन्दमाँ का बाप शून्य में यों देखे जा रहा था जैसे गोबिन्दमाँ मर गयी हो।

ब्राह्मण युवक अच्छा था, दिल का अच्छा था, इसलिए पहले वह गोबिन्दमाँ को मन्दिर में भी ले गया था और सभी प्रेमियों की भाँति देवता के सामने और पुजारी के सामने विवाह की शपथ लेने का स्वांग भी रचा था, और वह सहस्रों वर्ष पुराने प्रेम-वाक्य भी दोहराता रहा था जो लगता है, सभी प्रेमियो ने रट रखे होते हैं। पर अन्त मे पैसे चुकने लगे थे और वह उसे मजबूर होकर अपने घर, अपनी माँ के पास ले गया था।

"मुझे विश्वास है, माँ तुम्हे कबूल कर लेगी। एक बार जब वह तुमसे मिलेगी तो तुम्हे अपनी बेटी के समान प्यार करने लगेगी।"

पर सास ने वे बातें कहीं जो एक सास ही कह सकती है। आसपास के सभी लोग काले थे, उसका अपना बेटा काला था लेकिन जैसी काली-कलूटी उसे गोबिन्दमाँ लगी, वैसा कोई न था। इस पर नाडार जात की! एक बार तो उसने गोबिन्दमाँ पर थूक दिया था। गोबिन्दमाँ, जो सतरंगे आकाश में उड़ती रही थी, जैसे पकड़ ली गयी थी और उसके पंख नुचने लगे थे। गोबिन्दमाँ चुपचाप सुनती रहती, और नीचे धरती की ओर देखती रहती, और अन्दर ही अन्दर मुस्कराती रहती। "क्या है, कहने दो," वह रात के अँधेरे मे, दो कोठरियोंवाले उस छोटे-से घर में, एक कोठरी की दीवार के साथ अपने पति से लिपटी फुसफुसाकर कहती, "तुम चिन्ता नही करो, हमने उनसे पूछा भी तो नही है, वह बूढ़ी भी तो हैं! मैं इन्हे मना लूँगी, मैं इनके पैर धो-धोकर पिऊँगी। वह बड़ी अच्छी हैं, मान जायेंगी…।"

जब भी युवक किसी काम से बाहर जाता तो दोनों कोठरियाँ भायें-भायें करने लगतीं, लौटकर आता तो स्वर्ग बन जातीं। वह इन्हें रोज लीपा करती थी, बाहर की दीवार पर लाल मिट्टी से पति-पत्नी ने लक्ष्मी का चित्र बनाया था, चित्र ब्राह्मण ने बनाया था लेकिन उसके नीचे और ऊपर दो मोरों की आकृतियाँ गोबिन्दमाँ ने बनायी थीं।

पर सास के पसीजने से पहले ही ब्राह्मण युवक का दिल डोल गया था और गोबिन्दमाँ अपने गाँव अकेली लौटी थी, सिर पर एक छोटी-सी

गठरी उठाये हुए। ब्राह्मण युवक केवल रेलगाड़ी में उसे बैठाने आया था, और सारा वक्त भविष्य के आश्वासन देता रहा था और गोबिन्दमां उसका एक-एक शब्द सच मानती रही थी।

"ऐसा हो जाता है, मां," गोविन्दमां मेरी पत्नी से बरसों बाद कहती थी, "अपनी मां की बात मोडना बहुत कठिन होता है।" किस कच्चे धागे पर तब भी गोबिन्दमां का विश्वास लटक रहा था!

आंगन में सारा वक्त धूल उड़ती रहती थी, घर ऐसा जड और सूना लगता मानो समय की गति से पिछड गया हो और शून्य में लटक रहा हो। बुढ़ापे के खखारने की आवाज़, दो टूटे बर्तनों के खनकने की आवाज़, मां के चिल्लाने की आवाज, दो जीवों की रोटी हर रोज तीन जीवों में बँटने लगे तो घर की हांडियां भी भायँ-भायँ करने लगती है। फिर, एक तो बेटी ब्राह्मण के साथ भागकर मां-बाप के मुँह पर कालिख पोत गयी थी, फिर खाक छानती घर लौट आयी थी, पहले अगला जन्म बरबाद किया था अब यह जन्म भी मिट्टी में मिलाने चली आयी थी।

"मां, मैं चली जाऊँगी, तू चिन्ता नहीं कर।" गोबिन्दमां अपनी मां को ढाढ़स बँधाकर कहती, "वह आदमी अच्छा है, वह केवल अपनी मां की बातों में आ गया है। उसने सचमुच मेरे साथ ब्याह किया है...।"

गोविन्दमां को अपने दिल से आशा की आहट मिलती रहती। प्राइमरी स्कूल की चौखट पर फिर से माथा फोड़ने के बाद घर लौटी तो मां से बोली:

"नाडारों का स्कूल है न, मुझे कैसे ले लेते? मगर बड़ी उस्तानी बहुत भली औरत है। कहती थी, 'मेरी सच्ची सहानुभूति तेरे साथ है, पर मैं क्या करूँ, स्कूल नाडारों का है।' ठीक ही तो कहती थी।"

तभी गोविन्दमां का बायां हाथ और बायां पांव सुन्न हो गये थे। पैर उठता ही न था। "देखो तो मां, क्या हो गया है..." और वह औंधे मुंह गिर पड़ी थी।

मां ने हल्दी पिलायी। वह गली में जाती तो परिचय की हर औरत कोई-न-कोई इलाज बतलाती, "कबूतर का खून लेकर उसमें दूध काढ़कर पिलाओ।" पर मां ने नहीं पिलाया। "मद्रास में एक बड़े हकीमजी हैं, मुफ्त में इलाज करते हैं।" पर मां बेटी को उसके पास भी नहीं ले गयी। भाग्य सबसे बड़ा हकीम है, नब्ज़ उसके हाथ में आ जाय तो मरता आदमी भी

उठकर बैठ जाता है। उसके हाथ मे नब्ज होगी तो यह अपने-आप ठीक हो जायेगी।

कुछ ही दिनों मे गोबिन्दमाँ खाट में जैसे धँसने लगी थी, खाट से जुडी-जुड़ी, धँसती जाती और सूखती जाती। केवल खुला दरवाजा ढेरों रोशनी अन्दर ले आता था। सारा वक्त वह पड़े-पड़े खुले दरवाज़े मे से आँगन को ही देखती रहती थी, आँगन और आँगन के पार ताड के पेड़ और हरी-हरी घास! घास के तिनके ऐसे हिलते थे मानो धरती माँ को झुरझुरी हो रही हो, और कभी-कभी ताड के पेड खड़े-खडे झूमने लगते, पागलो की तरह झूमने लगते। और गोबिन्दमाँ को लगता जैसे सारी धरती हिलोरें लेने लगी है।

कभी-कभी गोबिन्दमाँ को ऐसा भास होने लगता जैसे कुछ होने वाला है, जैसे कोई झीनी-सी सफेद चादर आकाश मे से उतरी है, और खेतों पर, और जंगलों पर उडती हुई उनके घर के इर्द-गिर्द डोलने लगी है, जैसे कुछ हिलने लगा है, जैसे समय का गर्भ फिर से भर गया है; जो पहले खाली-खाली, सूना-सूना था, अब भरने लगा है, वैसे ही जैसे मेघ मे जल भर जाता है। खाट पर पड़े-पडे दूर खेतो पर आँख लगाये, उसे भास होने लगा था कि कुछ होनेवाला है।

तभी वह एक दिन सामने दहलीज पर खडा था, पछतावे का मारा।

और गोबिन्दमाँ पडे-पडे किलकारी भरकर चिल्लायी थी, "देखा, मैंने कहा था न! देखा माँ, मैंने कहा था न, वह आयेगा!"

और दो दिन बाद जब वह तांगा लेकर आया और अपनी बलिष्ठ बाँहों मे गोबिन्दमाँ को उठाकर ताँगे पर लिटा दिया तो गोबिन्दमाँ को लगा जैसे उसके निरुद्ध अंगों मे भी पुलकन हुई है। उसे लगा जैसे सभी अग हल्के-हल्के हो गये है, उन पर से कोई असह्य बोझ जैसे झरकर उतर गया है। ताँगा चलने लगा तो उसे लगा जैसे फिर से वह भागती गाड़ी के डिब्बे में बैठी है और ब्राह्मण युवक की आँखो में दौड़ते खेत और झूमते पेड़ और आकाश की असीम नीलिमा झाँकने लगी है।

मद्रास के अस्पताल में गलियारा बड़ा लम्बा था, लम्बा ही लम्बा, खत्म होने में नहीं आता था, और अन्दर एक खाट के साथ दूसरी खाट और दूसरी के साथ तीसरी और तीसरी के साथ चौथी, दूर तक खाटें ही खाटें और सभी पर लाल कम्बल और सफेद कपड़ों में दौड़ती-फिरती

नर्सें। पर ब्राह्मण को तनिक भी झेंप नहीं होती थी। खाट के पायताने बैठकर वह उसकी टाँग दबाने लगता, तोरी की तरह लटकती बाँह की मालिश करने लगता। दो चीकू और दो सन्तरे अपने हाथों से रोज छील-छीलकर खिलाता था। गोविन्दमाँ बच्चों की तरह न-न करती रहती और नन्ही गौरैया की तरह मुँह खोलती रहती। एक बार तो कंघी लेकर उसके बाल काढने लगा था तो गोविन्दमाँ जोर-जोर से सिर हिलाने लगी थी और किलकारियाँ भरने लगी थी और आसपास के मरीजों को अपनी ओर देखते पाकर गोविन्दमाँ को बड़ी झेंप लगी थी पर साथ-ही-साथ गर्व का भी भास हुआ था! तभी उसने उसके हाथ से लपक कंघी छीन ली थी।

फिर एक दिन वह गोविन्दमाँ की ओर पीठ किये फर्श पर बैठा, फल छील रहा था तभी सहसा गोविन्दमाँ हँसती हुई उसके पास गिर पड़ी थी। लरजते अंगों से वह चुपचाप खाट पर से उतर आयी थी और खाट की पाटी को पकडे पैर घसीटती हुई उसकी ओर चल पड़ी थी। उसने उठाकर गोविन्दमाँ को खाट पर लिटाया और डाँट दिया तो भी गोविन्दमाँ हाँफती-हँसती रही। उसके बाद केवल दो दिन तक वह उसके कन्धे का सहारा लेकर चली, तीसरे दिन वह पाटी का सहारा छोड जैसे-तैसे सीधे दरवाजे तक जा पहुँची, घबराई हुई, पाँव आगे बढाती जाती और हँसती जाती, काँपती-सी हँसी और उसके कुछ दिन बाद वह पहले वार्ड,,फिर गलियारा, फिर आँगन भी लाँघकर सीधी सडक पर खडे ताँगे तक जा पहुँची थी। और वे शायद एक बरस तक या दो बरस तक एक साथ मद्रास शहर में रहते रहे थे।

पर अब की बार वह फिर लापता हो गया था। नाटक के इस दृश्य को काल-क्रम मे जोड़ो तो जैसे जुड़ ही नहीं पाता, किसी फ्रेम मे वह फिट नहीं बैठता, न काल-क्रम मे, न नैतिक दर्शन में, न मानव-स्वभाव में।

वे फिर ताँगे पर बैठे स्टेशन की ओर जा रहे थे और गोविन्दमाँ चहक रही थी। शायद महीनों बाद की बात होगी, या बरसों बाद की। गोविन्दमाँ ने उजली नीले रंग की साड़ी पहन रखी थी, और बालों मे सफेद रंग के फूल थे। गर्भ के कारण उसके लिए ताँगे के हिचकोलों मे सीधे बैठ पाना कठिन हो रहा था। और वह बराबर मुस्कराये जा रही थी और हर तीसरे-चौथे मिनट पति का हाथ खींचकर अपने पेट पर रखती, "देखा? हिला था न? तुम्हे पता नही चला? अभी देखना, अभी फिर लात मारेगा,

फिर हिलेगा ! देखा ? देखा ? देखा ? देखा ?" फिर वह हर बार किलक-कर कहती, "बेटा होगा, पड़ोसवाली बुढ़िया कहती थी, जो अन्दर-ही-अन्दर ऊधम मचाये तो समझो बेटा होगा।"

पर अब की बार वह उसे छोड़कर गया तो लौटकर नहीं आया। कह गया था सात दिन में आ जाऊँगा, और अब सात बरस हो चले थे। गोबिन्दमाँ कभी-कभी पत्नी से कहा करती थी कि ताँगे में बैठा वह उस रोज़ भी उससे आँखें चुरा रहा था, पर गोबिन्दमाँ ने ध्यान नहीं दिया। गोबिन्दमाँ उसकी ओर देखती तो वह दूसरी ओर देखने लगता, और गोबिन्दमाँ समझती कि यह उसकी स्वभावगत झेंप है।

गोबिन्दमाँ धम-धम करती माँ-बाप के घर पहुँची थी, उसकी जेब में पूरे पचास रुपये थे और हफ्ते-भर में वह लौटनेवाला था। तब माँ और बाप दोनों हँसकर बोले थे। और पूरे सात दिन तक गोबिन्दमाँ उनके साथ चहकती रही थी, और उसने अपनी माँ को पूरे मद्रास शहर की सैर करा दी थी। आठवें दिन के बाद अनिश्चय डोलने लगा था, और हिलोरें लेते पेड़-पौधों में जड़ता आने लगी थी, और फिर काँच की चादर जैसा शून्य चारों ओर हर चीज़ को ढँकने लगा था। आँगन की धूप सूत-सूत करके कम होती जाती, फिर धूप छाँह में बदलती, फिर छाँह रात में बदलती, पर कहीं से आहट नहीं मिलती। गोबिन्दमाँ की आँखें बीसियों खेत पार कर दूर उस सड़क पर जा पहुँचती जहाँ यात्रियों के पैरों की धूल उड़ती है।

घर में फिर से पहले की-सी आवाजें आने लगीं। बाप, जो कुछ दिन तक खूब बीड़ियाँ फूंकता रहा था, अब फिर से झींकने-बड़बड़ाने लगा, दो आदमियों की रोटी फिर तीन जनों में बँटने लगी और माँ बात-बे-बात फिर अपने गन्दे पेट का हवाला देने लगी।

"वह आयेगा माँ, वह ज़रूर आयेगा। तुम चिन्ता नहीं करो माँ, वह नहीं आया तो मैं यहाँ से चली जाऊँगी, उसे ढूँढ लाऊँगी।" गोबिन्दमाँ को विश्वास था कि बेटा हो जाने के बाद उसे ढूँढने निकल पड़ेगी, और उसके घर से निकलने की देर है कि वह उसे ढूँढ निकालेगी। घर से बाहर कदम रखने की देर है कि वह उसे मिल जायेगा। गोबिन्दमाँ अपने बेचैन टूटे पंखों के बल पर उड़ने की चेष्टा करती हुई आँधी में कहाँ से कहाँ पटक दी गयी।

गोबिन्दमाँ अभी भी यह समझती है कि वह स्वयं उड़ रही है, वह स्वय उडकर एक शहर से दूसरे शहर, एक गाँव से दूसरे गाँव पहुँचती रही है।

तब से अब तक सात साल बीत चुके हैं और वह नही मिला। गोबिन्दमाँ ने झाँक-झाँककर सैंकड़ो-हजारो लोगों के चेहरों को देखा है—रेलवे स्टेशनों के फाटको पर, नदी के घाटों पर, चलती सडकों पर, साधुओं-वैरागियों के डेरों मे, होटलों मे। मद्रास की सड़कों पर तो वह पागलो की तरह घूमती रही है, और उसके घर की चौखट पर भी बीसियो बार माथा फोड़ आयी है। घरवाले यही कहते हैं,"बुढिया मर गयी है,उसका बेटा यहाँ नही है। यह घर हमने खरीद लिया है।" पर गोबिन्दमाँ हर तीसरे-चौथे महीने यही वाक्य सुनने वहाँ पहुँच जाती रही। "यों देखा तो नही माँ, पर मुझसे किसी ने यह भी तो नही कहा कि वह मर गया है।"

गोविन्दमाँ पत्नी से कहा करती थी, मानो उसने अपने ब्राह्मण पति को अपनी ओट में ही कही छिपा रखा हो।

सात साल बीत गये हैं। ब्राह्मण पीछे छूट गया है। जीवन में वह असगत होकर जैसे झर गया है। गोबिन्दमाँ ने इन्तजार करना छोड़ दिया है। लगता है गोबिन्दमाँ के मन में नयी कोंपलें लगी हैं। सात साल लम्बा अर्सा होता है, जिसमें बहुत-कुछ बदल जाता है—इन्सान का शरीर, उसका मन, उसकी आशाएँ-आकाक्षाएँ।

तभी, हमारे घर मे ही गोबिन्दमाँ ने पत्नी से एक दिन कहा था :

"माँ, तुम्हें बुरा लगे, अगर मेरा कोई दोस्त हो ?"

तभी हमारी नैतिकता को चाबुक लगी थी और गोबिन्दमाँ का चेहरा पाप जैसा काला और कुरूप लगने लगा था।···

गोबिन्दमाँ का एक और अतीत भी है, नम्बर दो अतीत। यह अतीत भी गूमड़ की तरह सूजकर गोबिन्दमाँ की जिन्दगी मे उभर आया। लगता था फोड़ा है, बैठ जायेगा और गोबिन्दमाँ का जीवन समतल हो जायेगा, अपनी यातना में समतल, अपनी अटूट आशा में समतल। इस अतीत मे सबसे पहले दिल्ली आती है, और एक सजा-धजा घर आता है, टेलीफोन आता है, और रुपल्ली जितनी बड़ी बिन्दी माथे पर लगानेवाली युवा मालकिन आती है, जो रोज ११ बजते-बजते छमछम करती साड़ी पहने

बैग झुलाती शॉपिंग करने जाती है और जो रोज गोबिन्दमां के सामने रोती है, और बारिश की बूंद जितने मोटे-मोटे आंसू बहाती है :

"तेरा घरवाला तो भाग गया है, तेरे जीवन में से निकल गया है, पर मेरा घरवाला तो मुझे तिल-तिल कर जला रहा है।"

पहली बार उसकी बातें सुनकर गोबिन्दमां की आंखें फैलती गयी, फैलती गयी और मालकिन ठण्डी आहें भरती हुई कहती गयी :

"है एक, पंजाबिन, इसी शहर मे है, उसी के पास दौडा फिरता है, अपने पैसों से उसे घर भी ले दिया है...।"

गोबिन्दमां उसका सिर दबाती तो वह रोज अपना दुखड़ा रोती और रोज ही मालकिन को देख उसका दिल भर-भर उठता।

और रोज ही ११ बजते-बजते मालकिन छमछम करती साडी पहनकर, माथे पर रुपल्ली जितनी बिन्दी लगाये बैग झुलाती 'शॉपिंग' करने निकल जाती थी। तब गोबिन्दमां को अच्छा लगता था। आंगन के हिलते पत्तों के साथ-साथ झूमती हुई-सी वह गुलमोहर के आंगन पार कर जाती थी, लगता गुलमोहर की हिलोरती टहनियों के साथ-साथ उसकी साड़ी का उड़ता पल्लू और हाथ मे उसका झूलता बैग और विशेष लय में साड़ी के बार्डर के नीचे उठते उसके पांव चल रहे है। ऐसे ही मालकिन सडक पर पहुँचकर बायें हाथ को आंखो से ओझल हो जाती थी और बरामदे में खड़ी गोविन्दमां उसे निहारती रहती थी।

घर में कम लोग आते थे, पर बार-बार आते थे। मालकिन का भाई आता था जो संसद-सदस्य था, उसकी दो ठुड्डियां थीं और वह सारा वक्त मुँह से सांस लेता था, कभी धोती पहनकर आता, कभी पतलून, और जाने से पहले सदा गोविन्दमां को सीख देकर जाता था, "मेरी बहिन का ध्यान रखना, यह बेचारी बहुत दुखी है। साल में कभी-कभी संसद-सदस्य का सेक्रेटरी भी आता था, उसकी बगल मे सदा पीले रंग की फाइल होती और वह एक ही झटके मे हाथ भी जोड़ता और सिर भी झुकाता था और चुपचाप बरामदे में बैठा रहता था। कभी-कभी घर का मालिक भी आता था, मालकिन का पति, तब दरवाजे बन्द हो जाते थे, घण्टों बन्द रहते थे, कभी तो घर मे सन्नाटा छाया रहता था, कभी अन्दर से मालकिन के चिल्लाने और ऊँचा-ऊँचा रोने की आवाजें आने लगती थीं। मालिक जब लौटकर घर से जाता तो किसी की ओर देखता ही न था। सीधा गर्दन

आगे की ओर बढाये सीढ़ियों की ओर हो लेता था।

तभी एक दिन गोविन्दमां जब सीढ़ियां चढकर आयी तो पर्दे के पीछे खड़ी की खडी रह गयी। मालकिन टेलीफोन पर बैठी प्रेमालाप कर रही थी।

"तुम बहुत बुरे हो जी! मैं तुमसे कभी नही बोलूंगी।"

और पर्दे के पीछे से भी गोविन्दमां ने देख लिया कि टेलीफोन का चोगा कान के पास लगाये हुए मालकिन रूठने का अभिनय कर रही है। "कल क्यों नही मिले? हां, बडे आये! आज नही आओगे तो मैं कभी बोलूंगी भी नही। पूरा आधा घण्टा मैं वहां खड़ी तुम्हारी राह देखती रही। बस, बस, कुछ मत कहो, झूठ बोलते शर्म भी तो नही आती।" फिर मालकिन हँसने लगी, "क्यों नही करूँगी, मैं सब-कुछ कर सकती हूँ। मैं तुम्हारी पत्नी को गुमनाम खत लिखूंगी कि तुम्हारा पति किसी औरत के चक्कर मे है, उसे सँभालकर रखो।···हाय, हाय, बिगड़ गये?" फिर हँसी से लोट-पोट हुई जा रही थी, "अच्छा नही बताऊँगी। कान पकडो! पकड लिये? अब कहो, फिर ऐसा अपराध कभी नही करोगे।" फिर मालकिन हँसने लगी, हँसी से लोट-पोट हुई जाती। फिर वह टेलीफोन के चोगे में बार-बार चुम्बन फेंकने लगी, सिर हिला-हिलाकर बार-बार चूमने का स्वर निकालती जाती और उसका चेहरा तमतमाता जाता, फिर उसने चोगे को छाती से लगाया, और देर तक उसे छाती से लगाये रही और दायें-बायें झूलती रही।

"अच्छा, बस, बस, अभी बन्द करूँगी। वह आनेवाली होगी, वही कलमुँही।" फिर हँसकर बोली, "अपने पति को यहां ढूंढने आयी है। हां, हां, सच! गांव की है, नहीं नही, सुन्दर जरा भी नहीं। कुछ भी नही जानती, बालों मे केवल फूल टांकना जानती है। हत्, ऐसा नही कहते?···"

गोविन्दमां पीछे हट गयी, और पीछे हटती-हटती सीढियों तक जा पहुँची, फिर दबे पांव सीढियां उतर गयी और सबसे नीचे की सीढ़ी पर बैठ गयी, और देर तक भौचक-सी वही बैठी रही। देर तक उसकी समझ मे नहीं आयी। यों भी दिल्ली की अनेक बातें उसकी समझ मे नही आती थी। कौन था जिसके साथ मालकिन बातें कर रही थी? कौन-सी बात झूठ है, कौन-सी सच? कौन-सी बात बुरी है, कौन-सी अच्छी?···थोडी

देर तक वह वहीं बैठी रही, फिर सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर गयी तो मालकिन दुखते सिर को अपने दोनों हाथों से दबाती जमुहाइयाँ लेती पर्दे के पीछे से बाहर आयी।

"एक पल के लिए भी नींद नहीं आयी। सारा वक्त करवटें बदलती रही हूँ। आ जा, मेरा सिर दबा दे। रसोई बाद में करती रहना। मेरा जीवन तो नरक है। यह भी कोई जीना है, इस जीने से तो मर जाना अच्छा है!..."

सिर दबाती गोविन्दमाँ का मन छटपटाता रहा। कौन था जिसके साथ मालकिन हँस-हँसकर बातें कर रही थी, चुम्बन फेंक रही थी? बार बार उसके मन में आया कि पूछे, लेकिन हिम्मत नहीं बाँध पायी। मन में उथल-पुथल मची थी। अँधेरे में जैसे कोई चौंधियाता-सा दरवाज़ा खुलता था और फिर बन्द हो जाता था। जैसे पृथ्वी के गर्भ में कोई भूचाल आये और ऊपर खड़े ऊँचे-ऊँचे मकान हिलने लगें।

"मैं थोड़ी देर के लिए बाहर जाऊँगी, तबीयत सँभल जायेगी," मालकिन ने सोफे पर से उठते हुए कहा। और ग्यारह बजते-बजते जब मालकिन बग झुलाती सीढ़ियाँ उतर गयी तो रहस्य की कोई बात नहीं रह गयी।

गोविन्दमाँ का ध्यान बैठे-बैठे उचट जाता, बैठे-बैठे कलेजे में घूँसा-सा लगता। इस प्रहार के नीचे अन्दर ही अन्दर कोई चीज़ काँप-काँप जाती फिर धीरे-धीरे स्थिर हो जाती। मालकिन की दिनचर्या का क्रम स्पष्ट होने लगा था। जब मालकिन गोविन्दमाँ को सौदा लेने बाजार भेजेगी तो इस बीच टेलीफोन पर चुम्बन होंगे, जब लौटेगी तो मालकिन अपना दुखता सिर दबाने के लिए आग्रह करेगी, फिर कपड़े पहनकर बैग झुलाती, शॉपिंग के लिए जायेगी। गोविन्दमाँ के कान चौबीस घण्टे मालकिन के कमरे की ओर लगे रहते। गोविन्दमाँ दबे पाँव लगभग रोज ही टेलीफोन पर प्रेमालाप सुन लेती। लाल-लाल होंठों के चुम्बन भी देखती, जिन्हें देखकर उसे मतली हो आती।

गोविन्दमाँ के अन्दर आग-सी जलने लगी। बैठे ही बैठे एक लपलपाती सी शिखा भड़क उठती। नहीं तो आग दबी रहती, उसमें से उठनेवाला धुआँ आँखों पर छा जाता और उसे कुछ भी नहीं सूझता—रात को लेटती तो करवटें बदलती रहती। हर बार करवट बदलने पर ब्राह्मण पति आँखों

के सामने आ जाता तो दिल खून-खून हो जाता, उस पर क्रोध आने लगता। मरा नहीं था तो मेरी सुध तो लेता, अपनी माँ के जीते-जी नहीं आ सकता था तो माँ के मरने के बाद तो आता। साधु भी बन गया है तो साधु भी *हत्यारों की भाँति उस घर के सामने से एक बार तो जरूर ही जाते है* जिस घर को उन्होंने छोडा हो। उसे कभी-कभी विश्वास होने लगता कि उसका ब्राह्मण मर-खप गया है। जो तर्क उसे कभी आश्वस्त नहीं कर पाते थे वे अपने-आप उसके मन मे चक्कर काटने लगे थे। एक बार सपने में गोविन्दमाँ ने देखा कि ऊँची ढलान पर से किसी का बँधा हुआ बिस्तर गिर रहा है, चट्टानो-पत्थरों से टकराता नीचे लुढकता जा रहा है, और नीचे बहती नदी में जा गिरा है और फिर बहती नदी की नीली जल-धारा मे कोई चीज बही जा रही है, बही जा रही है, कोई काली-सी चीज है, पर वह बिस्तर नही, किसी आदमी का सिर है, वह ब्राह्मण युवक का सिर है जो बहा जा रहा है, बहा जा रहा है और आगे नदी की लहर मोड़ काट गयी है और वह आँखो से ओझल होता जा रहा है, और गोविन्दमाँ किनारे पर खडी अपनी मालकिन से पूछ रही है :

"वह डूब गया जी ? क्या वह डूब गया ?"

फिर एक दिन मालकिन का सिर दबाते हुए उसने कह ही दिया, "माँ, तुम ऐसी बात नहीं करो। वह करता है तो उसे करने दो। तुम्हें यह शोभा नही देता। स्त्रियों को यह शोभा नहीं देता।" उसने मालकिन को यह भी बता दिया कि पर्दे के पीछे खड़ी वह उसका प्रेमालाप सुनती रही है। मालकिन उठ बैठी थी और फटी-फटी आँखों से उसकी ओर देखती रही थी, फिर सिर झटककर लेट गयी, "मैं क्यों यहाँ पडी-पडी गलती रहूँ ? वह कर सकता है तो मैं भी कर सकती हूँ। उसे मेरी परवाह नहीं तो मैं ही क्यों उसकी परवाह करूँ ? पर तू किसी को बताना नहीं। खबरदार जो किसी के आगे मुँह खोला।"

सिर दबवाने का आडम्बर फिर भी चलता रहा। मालकिन उस रोज भी अपने प्रेमी से मिलने गयी, और उसे जाते देखकर बालकनी पर खड़ी गोविन्दमाँ के दिल में टीस भी उठी और हूक भी, घोर घृणा भी और मन रोने-रोने को भी हुआ।

ईर्ष्या जब बोलती है तो साधुओं की भाषा में, अपने को झुठलाने की चेष्टा करती हुई। तभी एक रोज पैर घसीटती गोविन्दमाँ मालकिन के

भाई के घर भी जा पहुँची थी और दहलीज पर ही खड़े-खड़े उसने कह दिया था, "मैं आपसे एक बात करने आयी हूँ जी । आप मालकिन को समझाइए न, वह बुरे रास्ते पर जा रही हैं। आप उनके भाई है। उन्हे दुख है, मैं जानती हूँ। मगर···" और उसने मालकिन के अभिसार की सारी कहानी कह डाली।

मालकिन का भाई बात करता था तो कमरे में टहल-टहलकर, मंच के किसी अभिनेता की भाँति। दहलीज के पास पहुँचता तो गर्दन ऊपर उठाता, आँखें सिकोड़कर गोबिन्दमाँ की ओर देखता, और कुछ कहने के लिए मुंह खोल देता, वैसे ही जैसे बगुला चोंच से गन्दा पानी निकालने के लिए गर्दन ऊपर उठाता है। मालकिन का भाई देर तक टहलता और गर्दन ऊपर उठाता रहा, और आँखें सिकोड़कर गोबिन्दमाँ की ओर देखता रहा।

"उनसे नही कहिए जी, कि मैंने आपको कुछ बताया है, वह बहुत बिगड़ेंगी···।"

इस पर भी वह सज्जन आँखें सिकोड़े देर तक गोबिन्दमाँ के चेहरे की ओर देखते रहे थे।

वहाँ से लौटते हुए गोबिन्दमाँ सन्तुष्ट भी थी और उसे पछतावा भी था, और हर बीस कदमो के बाद उसके दिल में टीस भी उठती थी, जैसी कि सभी के दिल मे उठती है, और कुछ देर बाद वैसे ही दब जाती थी जैसे कमर का दर्द उठकर दब जाता है···

फिर एक दिन जब मालकिन घर पर नही थी और टेलीफोन की घण्टी बजी, और गोबिन्दमाँ ने चोंगा उठाया तो उसका चेहरा लाल हो गया।

"मालकिन बाजार गयी हैं, कन्नाट-प्लेस गयी हैं जी।"

"मैं मालकिन से नही, तुमसे बात करना चाहता हूँ।"

"आप···" गोबिन्दमाँ का दिल धड़कने लगा। "मैं गोबिन्दमाँ हूँ जी, मालकिन बाहर गयी हैं।"

"मैं तुम्ही से बात करना चाहता हूँ, तुम मुझे जानती हो, मैं सिरी-निवासन हूँ।"

"हाँ जी, मुझे मालूम है। मैंने आपको कई बार देखा है। आप दादा के सेक्रेटरी हो ना?"

"हाँ, मेरा मन बहुत चाहता था तुमसे बातें करने को।"

गोबिन्दमाँ ने झट से चोंगा नीचे रख दिया, और दाँतों से जीभ काटकर वहाँ से हट गयी मानो टेलीफोन ने उसे डसने के लिए फन फैलाया हो। वह वहाँ से हट गयी और बेमतलब-सी कमरे में चक्कर काटने लगी।

तभी टेलीफोन की घण्टी फिर से बजी। और दस बार हाथ बढ़ाने और दस बार हाथ खींचने के बाद गोबिन्दमाँ ने चोंगा उठा लिया।

"तुमने चोंगा क्यों रख दिया? नाराज़ हो गयीं? बहुत जल्दी नाराज़ हो जाती हो?···बोलती क्यों नहीं, नाराज़ हो गयीं?"

"···उज्जी जी-नहीं तो।"

गोबिन्दमाँ चोंगा कान से लगाये खड़ी थी और दूसरा हाथ साड़ी का पल्लू मरोड़े जा रहा था, और दिल धक्-धक् किये जा रहा था।

फिर आवाज़ आयी, "कभी मिलो न। मैं वहाँ आ जाऊँ?"

"कभी नहीं, कभी नहीं।" उधर से हँसी की आवाज़ आयी, "डर गयीं? डरो नहीं, मैं आऊँगा तो साहिब की फाइल बगल में दबाकर ही आऊँगा, साहिब को ढूँढता-ढूँढता। तुम क्यों डरो, डरना तो मुझे चाहिए। साहिब को पता चल जाय तो मुसीबत, बीवी को पता चल जाय तो मुसीबत···अच्छा बताओ न, कब मिलोगी? अभी आ जाऊँ?"

"नहीं, नहीं, नहीं।"

"मालकिन कब लौटती हैं?"

"बारह बजे।"

"अभी तो ग्यारह बजे हैं, कहो न आ जाओ। एक बार कहो, आ जाओ। मैं तुम्हारे मुँह से सुनना चाहता हूँ।"

और गोबिन्दमाँ ने घबराकर चोंगा फिर से रख दिया था।

तभी एक दिन रेलगाड़ी फिर दहाड़ती हुई दक्षिण की ओर बढ़ी जा रही थी, और उसके साथ-साथ खेत भी भाग रहे थे और टेलीफोन की तारें भी भाग रही थीं और रास्ते के पेड़ पछाड़ खा-खाकर पीछे गिर रहे थे। और गोबिन्दमाँ पोशाक में आधी देहातिन और आधी शहरी बनी, एक कोने में गुमसुम बैठी थी। गाड़ी उसे पीठ पर लादे भागती चली जा रही थी, जैसे पुरानी कहानियों में दैत्य किसी को उठाकर जंगलों की ओर ले जाते थे।

दूर, हज़ारों मील दूर, उसका कस्बा शून्य मे खड़ा था। उसका कस्बा क्या था, गाँव की उड़ती धूल थी और माँ की कर्कश आवाज़ थी और कभी न हिलनेवाले पेड़-पौधे थे, और चुप्पी थी, भयानक सन्नाटा था और घिरता अँधेरा था। यह सन्नाटा संसार के एक छोर से दूसरे छोर तक फैला था और इसमे कही पर भी ब्राह्मण के कदमों की आहट सुनने को नही थी।

मालकिन का भाई ठीक कहता था, "तुम अपने देश लौट जाओ, यहाँ रहोगी तो बिगड जाओगी।" और उसी का नौकर उसे गाड़ी मे बैठा गया था। दिल्ली मे चारों ओर रौनक रहती है, दूकानों पर रोशनी की लड़ियाँ ही लड़ियाँ चमकती हैं और लाखों लोग सारा वक्त सडकों पर चलते रहते है। जंगल में कोई खो जाये तो ढूँढने पर मिल भी जायेगा, लेकिन दिल्ली मे लाखो लोगों मे खोये आदमी का पता ही नही चलता।…सिरीनिवासन सिनेमा में बैठे-बैठे हाथ पकड़ लेता था, और पकड़े रहता था। कनपटियो के साथ होठ छूकर बात करता था और सिर के साथ सिर जोडे रहता था …गोबिन्दमाँ को झुरझुरी हुई। उसे लगा जैसे उसका कही ठौर-ठिकाना नही है, न गाँव में, न शहर में। गाँव मे धूल उड़ती है, और शहर मे आदमी चील-कौवों की तरह औरत पर झपटते है…

गाडी किसी बड़े स्टेशन पर खड़ी थी, शायद मेरठ का स्टेशन था। दूकानें, कुली, खम्भे, साइनबोर्ड, खोमचेवाले। गाडी की गति थम जाने के साथ समय की गति थम गयी जान पडती थी। गाँव दूर-का-दूर अधर मे लटक रहा था। गाँव के बारे में सोचती तो बदन में सिहरन दौड़ जाती। माँ-बाप की दो जोड़ी आँखें, जो हजारो मील की दूरी पर अभी से उसे घूरने-डँसने लगी थी और घर के खाली-खाली बर्तन, जैसे किसी दैवी अभिशाप में ग्रस्त, मुँह खोले पड़े थे।

डिब्बे मे दो-तीन मुसाफिर ही और आये थे। गठरियाँ सिर पर रखे तीन औरतें चढ आयी थी। तैरती-सी नज़र से गोबिन्दमाँ देखे जा रही थी। एक जवान लड़की स्टेशन आने से बहुत पहले—घण्टा-भर पहले ही बेचैन हो गयी थी और सामान बाँधने लगी थी, फिर वहीं बैठकर उसने बाल काढ़े थे। गोरी, प्यासी-सी लड़की थी। फिर कपड़ो की नयी जोड़ी बगल में दबाये सण्डास की ओर चली गयी थी, फिर लौटकर आयी थी तो सीट पर बैठी सुर्खी और आँखो मे काजल लगाती रही थी। और जब गाड़ी की रफ्तार

धीमी पड़ी और रेलवे-स्टेशन सामने आया तो लपककर खिड़की में खड़ी हो गयी—बड़ी-बड़ी आँखें, लाल होठ किसी को देखने-पाने के लिए आतुर। गाड़ी खड़ी हो जाने पर भी वह कभी खिड़की में तो कभी लपककर दरवाज़े में खड़ी हो जाती थी। कोई नहीं आया था। कौन था जिसका उसे इन्तजार था? वह अभी भी खिड़की के साथ चिपकी खड़ी थी। तभी एक युवक, हाँफता हुआ खिड़की के चौखटे में प्रकट हुआ था। वैसे ही जैसे उसकी कोठरी के बाहर एक दिन ब्राह्मण प्रकट हुआ था। और लड़की का चेहरा लाज से और खुशी से लाल हो गया था, और उसके तन-बदन में खुशी की लहरें दौड़ने लगी थीं। वह मुसकराती जाती और शरमाती जाती, और अपने सामान की एक-एक चीज़ उठाकर उसे पकड़ाती जाती। लड़की सामान देकर, हाथ में केवल एक टोकरी उठाये, धमधम करती डिब्बे में से उतर गयी थी। गोबिन्दमाँ को लगा जैसे कहीं कुछ जुड़ गया है, कहीं कोई टूटी हुई चीज़ सहसा जुड़ गयी है। और जुड़ते ही जैसे उसमें से रोशनी की लौ फूटी है!…

तभी गाड़ी सरकने लगी थी और तभी सिनेमा-चित्रों की तरह प्लेटफार्म पर खड़े लोग, खोमचेवाले और कुली खिड़की के फ्रेम में से निकल-निकलकर पीछे छूटने लगे थे। तभी गोबिन्दमाँ के अन्दर किसी चीज़ ने अँगड़ाई ली थी, कोई चीज़ कसमसाई थी, कोई गहरी तड़प जो जब भी उठती उसे अन्धा कर देती थी, और गोबिन्दमाँ ने दूसरे क्षण अपनी गठरी बाहर फेंक दी थी। लोटा सीट पर ही रखा रह गया था। एक क्षण उतरने में देरी हो जाती तो गोबिन्दमाँ उतर ही नहीं पाती। प्लेटफार्म पर उतरते समय उसके बालों में से फूल भी गिर गया था। घिसटनेवाला बायाँ पैर पहले प्लेटफार्म पर रखती तो औंधे मुँह गिरती, पर वह सँभल गयी थी।…

तभी गोबिन्दमाँ हमारे घर आयी थी और हमारे घर की दहलीज़ पर डोलती रही थी, कभी लगता था अन्दर आ जायेगी, कभी लगता था वहीं से पीठ मोड़ लेगी। तभी उसने एक दिन पत्नी से कहा था:

"माँ, तुम्हें बुरा लगे, अगर कोई मेरा दोस्त हो?"

और तभी हमारी नैतिक भावना को ज़ोरों की चाबुक लगी थी और हम उसे अपनी नैतिकता की टूटी हुई तराज़ू पर तौलने लगे थे और तभी

हमारी नजरों मे वह पाप जैसी काली नज़र आने लगी थी।

गोविन्दमाँ अब कहाँ है, मुझे कुछ भी नहीं मालूम। हमारे लिए वह क्षितिज लाँघ गयी है और बाहर के असीम झुटपुटे मे खो गयी है। क्या मालूम वह इस वक्त कीच से लथपथ, छिछले जल मे कहीं औंधे मुँह गिरी पड़ी हो। शायद हमारी नैतिक भावना चाहती भी यही है कि वह वहीं पड़ी-पड़ी डूब जाये ताकि हम कह सकें—देखा, हमने कहा था न! हुई न वही बात!

इन्द्रजाल

पिछले पन्द्रह दिनों में वह कपूरथला से दिल्ली, दिल्ली से कलकत्ता और कलकत्ता से वापस दिल्ली का सफर कर चुका था और अब कुर्सी पर दोनों टाँगें चढ़ाये बैठा चहक रहा था।

"चिन्ता दूर हो गयी। सबसे बड़ी बात यह है कि चिन्ता दूर हो गयी है।" उसने दसवीं बार कहा।

उसका चेहरा पहले से अधिक पीला और निस्तेज लग रहा था और एक अस्वाभाविक-सी उत्तेजना उसकी आंखों में चमक रही थी।

"मुझे तो लगता है कि बीमारी को कलकत्ता में फेंक आया हूँ। सबसे बड़ी बात तो यह है कि चिन्ता दूर हो गयी है।"

परिवार के सभी लोग बाहर लॉन में बैठे थे और उसकी हिम्मत की दाद दे रहे थे।

"हिम्मत तो तुममें बहुत है, यह हम मान गये," बरामदे में टहलते हुए बड़े भाई साहब ने कहा।

"हिम्मत जैसी हिम्मत," उसकी छोटी भतीजी बोली जो लॉन की दीवार के साथ अपने चाचा और चाची के बीच आराम-कुर्सी पर बैठी थी। "इतना बड़ा आपरेशन हुआ, अभी टांके भी नहीं खोले गये कि चाचाजी कलकत्ता के लिए निकल पड़े।"

"सच पूछो तो मुझे तुम पर बहुत गुस्सा था," बड़े भाई टहलते-टहलते रुक गये। "मैं कहूँ, यह आदमी किसी की सुनता ही नहीं। इधर आपरेशन हुआ, टांके अभी खुले नहीं कि इसने कलकत्ता की ओर मुँह कर दिया है।"

हवा का हल्का-सा झोंका आया, मानो धरती ने ठण्डी साँस भरी हो। जून महीने की शाम, पाँव के नीचे घास में से गरम-गरम उमस उठ रही थी। हवा का हल्का-सा झोंका शीतल स्पर्श दे गया था, मानो सबको सहला गया था। बरामदे के एक सिरे पर जहाँ फूलों की बेल एक पर्दे की तरह लटक रही थी, नारंगी रंग का एक और फूल गिरा। हर बार हवा का झोंका आने पर एकाध फूल झर जाता था जिस कारण नीचे ज़मीन पर नारंगी रंग के छोटे-छोटे फूलों से एक चौक पुर गया था। लॉन की दीवार पर कचनार की एक टहनी झुकी हुई थी। हर बार हवा का झोंका आने पर टहनी झूलने-सी लगती और लगता अबकी बार टहनी का सिरा जरूर दीवार को छू जायेगा, मगर हर बार वह उनके ऊपर से, उसे बिना छुए गुज़र जाता था। बरामदे की सीढ़ी पर बैठे अविनाश की आँखें बार-बार उस हिलती टहनी की ओर उठ जाती थीं।

"पिताजी," सहसा अविनाश ने कहा, "अस्पताल में आपके ऐन सामने वाले कमरे में जो मरीज़ था न, याद है आपको, वह, जिसे बोतलों से खून दे रहे थे ?"

"हाँ, हाँ, जानता हूँ, वकील का बेटा।"

"हाँ, वह मर गया है।"

क्षण-भर के लिए सभी चुप हो गये। बरामदे में टहलते हुए बड़े भाई भी ठिठक गये। एक झुरझुरी-सी उनके बदन में दौड़ गयी।

"छोड़ बेटा, तू भी कैसी बातें ले बैठता है," उसकी माँ ने उसे डाँटते हुए कहा।

"सच कह रहा हूँ माँ, वह मर गया, उसके खून में कैंसर था।"

माँ चुप हो गयी। सभी चुप हो गये थे। लड़के को जितना ज्यादा समझाने की कोशिश करेंगे, वह उतना ही ज्यादा बेहूदा बात करने लगेगा। चौदह साल का होने को आया, अभी तक जो मुँह में आये, बक देता है।

बड़े भाई फिर टहलने लगे थे। वह जब कभी किसी सोच में पड़ जाते, उनका दायाँ हाथ अनजाने ही दायें गाल पर आ जाता था और सिर उसी ओर तनिक झुक जाता था।

"सीधी पड़ जाय तो सभी कहते है, तुमने बड़ी अक्लमन्दी की; जो उल्टी पड़ जाय तो लोग कहने लगते हैं, तुमने क्यों गलती की ? क्यों

गलती की ?" भतीजी की ओर मुँह फेरकर चाची धीमे से बोली, फिर ऊँची आवाज़ में सबको सुनाती हुई कहने लगी :

"चलो, कलकत्ता की सैर हमने भी करनी थी, इसी सबब सैर कर ली।"

सभी हँस पड़े। चाची के मुँह से हल्की-फुल्की बात सुनने का मतलब था कि सचमुच चाची के दिल का बोझ हल्का हुआ है। आशंका और भय की अँधेरी खोह में से निकलकर ये लोग जैसे उजाले में आये थे। रोगी ने तो सहा जो सहा, उसके बाद चाची ने ही सबसे ज्यादा सहा था। पिछले कुछ दिनों में ही चाची के स्वभाव में ठहराव आ गया था। बहुत बाल भी सफ़ेद हो गये थे। विशेषकर कनपटियों पर के बाल, और अब जब वह मुसकराती तो बायें गाल पर एक गहरी रेखा खिंच जाती, जो सीधी गरदन तक चली गयी थी।

चाची को आशा नहीं थी कि सभी हँस पड़ेंगे। उन्हें हँसते देखकर वह झेंप गयी। फिर पहले जैसे बच्चों की तरह बोली :

"अब मैं बताऊँ आपको एक बात ?"

सभी उत्सुकता से उसकी ओर देखने लगे। बरामदे में टहलते हुए बड़े भाई साहब ने भी आँख उठाकर उसकी ओर देखा।

"क्या है चाची ?" छोटी भतीजी ने कहा।

"सुना दूँ जी ?" चाची ने अपने पति की ओर देखकर कहा।

"सुना दे, सुना दे, जो तेरे मन में आये सुना दे," पति ने लापरवाही से कहा।

"अच्छा, नहीं सुनाती," उसने बिल्कुल बच्चों की तरह कहा।

परिवार के सब लोग फिर हँस दिये।

"सुनाओ चाची, जरूर सुनाओ।" छोटी भतीजी ने आग्रह किया।

"पता है, उन्होंने कपूरथला वाले डॉक्टर से आपरेशन क्यों करवाया ? क्योंकि एक बार डीग में आकर उसे वचन दे बैठे थे ?"

"यह भी कोई तरीका है काम करने का ?" बड़े भाई छूटते ही बोले, फिर सँभल गये। "अब हो गया जो होना था। आपरेशन हमेशा सबसे अच्छे डाक्टर से करवाना चाहिए।"

"नहीं जी, मैंने कोई वचन नहीं दिया था," बड़े भाई की ओर देखकर वह बोला, "इसके जो मन में आये कहती रहे।"

"मैं झूठ थोड़े ही कहती हूँ," वह चहककर बोली, "डाक्टर ने कहा भी कि जब आपरेशन का वक्त आयेगा तो तुम दिल्ली भाग जाओगे। पर तेरे चाचाजी जोर से मेज पर हाथ मारकर बोले, 'वाह डाक्टर, तूने क्या समझ रखा है, मैं जात का बख्शी हूँ बख्शी, तुम हमें नहीं जानते ! बख्शी एक बार मुँह से कह दे तो पत्थर की लकीर होती है।"

कहते-कहते चाची का मुँह झेंप से लाल हो गया। उसे लगा जैसे उसके मुँह से फिर कोई गलत बात निकल गयी है।

उसका पति लापरवाही से हंस दिया था कि उसकी जेब मे कागज का वह पुर्जा रखा है, जिसे लेकर वह कलकत्ता से लौटा था और मानो विजय-ध्वज की तरह उसे फहराता आया था। उसकी आँखो के सामने फिर वह फरफराता पुर्जा आया और धीरे-धीरे स्थिर हो गया। साफ लिखा था कि श्री रामलाल बख्शी पूर्णतः रोगमुक्त हैं, इनकी अच्छी तरह से जाँच की गयी है। एक-एक शब्द साफ लिखा था। उसका दिल फिर बल्लियों उछलने लगा, और जीने की ललक एक बाढ की तरह फिर उसके सीने मे उठने लगी। उसने नजर बचाकर अपना हाथ नब्ज पर रखा। नब्ज अभी भी मामूली-सी तेज थी, पर उसने सिर झटक दिया। लम्बा सफर जो करके आया हूँ, नब्ज मे कुछ तेजी तो होगी ही। वह लापरवाही से उठा और उठकर आँगन की दीवार के बाहर देखने लगा।

रामलाल के सिर के बाल सफेद हो चले थे। आँखो पर चश्मा और ठिगने कद के कारण दीवार से सटकर खड़ा सफेद बालो वाला बालक नजर आ रहा था।

अस्तप्राय सूर्य की लौ शायद भीने बादलों के कारण चारो ओर फैल गयी थी। वातावरण में तपे ताँबे का-सा रंग घुल गया था। उसने सड़क के किनारे खड़े पीपल के पेड़ की ओर देखा। इस लौ के कारण एक-एक पत्ता अलग नजर आ रहा था। उसे लगा जैसे अस्तप्राय सूर्य ने सारी सृष्टि पर गुलाल छिड़क दिया है।

पिछले कुछ दिनों से ही उसे बाहर की दुनिया ज्यादा रंगीन नजर आने लगी थी। उसकी मनःस्थिति अजीब-सी हो रही थी। बाहर चारों ओर उसे झिलमिलाते रंग नज़र आते, पर अन्दर-ही-अन्दर एक दबी व्याकुलता कसमसाती रहती। बाहर की दुनिया ज्यादा रंगीन हो उठी थी, पर साथ ही अविश्वसनीय भी, मानो किसी की उत्तेजित कल्पना की उपज

हो अविश्वसनीयता। उसका मन आशंका से छटपटा उठता और उसका हाथ अपनी नब्ज़ पर आ पहुँचता। उसे लगता जैसे वह लम्बी नींद के बाद जगा है, और अपनी पुरानी दुनिया को पहचान नहीं पा रहा, उसे मन्त्र-मुग्ध-सा देखे जा रहा है।

धीरे-धीरे शाम के साये उतरने लगे। हर दो-एक मिनट के बाद वह आँख झपकाता तो उसे लगता जैसे अँधेरे की एक और परत उसके आस-पास उतर आयी है। सड़क के पार, मैदान में, घिरते सायों के बावजूद कुछेक बालक खेल रहे थे। पड़ोस के किसी मकान से, नीले रंग की साड़ी पहने कोई महिला निकलकर आयी और सड़क के किनारे आकर रुक गयी और खेलते बच्चों में से अपने बच्चे को बुलाने लगी :

"रमेश, चलो घर, फौरन आ जाओ।"

खेलते लड़कों में से एक छोटा-सा बालक ठिठक गया और महिला की ओर देखने लगा। माँ ने फिर पुकारा, जिस पर लड़के ने हाथ उठाकर कहा :

"अभी आता हूँ, माँ, तुम चलो।"

रामलाल को बच्चे से गहरी ईर्ष्या हुई। उसे लगा जैसे यह बहुत पुरानी आवाज़ है, जो उसने पहले भी सुन रखी है, सहस्रों वर्ष पुरानी आवाज़, मानो यह उसके दिल की आवाज़ हो जिसे बच्चे ने वाणी दी हो। कितना खुशकिस्मत है जो खेल रहा है और लौटने का नाम नहीं लेता।

सहसा दायीं ओर सड़क पार के घर में किसी ने ग्रामोफोन बजा दिया। कोई नाच की धुन बजने लगी। रामलाल ने नजर उठाकर ऊपर देखा। छज्जे के पीछे वही लाल शेड वाली बत्ती जल उठी थी। वहीं से संगीत की धुनें बह-बहकर आ रही थीं। सांवले रंग की एक युवती, सफेद ब्लाउज़ और लाल रंग की स्कर्ट पहने छज्जे के जंगले के साथ आकर खड़ी हो गयी, और जंगलों को पकड़े अपने पैरों से संगीत के साथ-साथ ताल देने लगी। घिरते अन्धकार के महासागर में जैसे हल्की लहरें उठने लगी हों। बाईस-एक साल की रही होगी, यौवन और स्वास्थ्य उसकी नस-नस में फूट रहा था। रामलाल को लगा जैसे लड़की के स्वस्थ, कसमसाते शरीर की मादक गन्ध हवा में फैलती जा रही है।

"देखूँ तो कैसे नहीं आता।" उसने कहा और मैदान में घुस गयी। नीली साड़ी में लिपटे उसके गदराये शरीर में मातृत्व की स्निग्धता थी;

उसकी ओर देखते हुए रामलाल को एक सुखदायी गृहिणी का भास हुआ, तृप्ति और स्थायित्व का। माँ के जा पहुँचने पर खेल रुक गया, और उसका बेटा भागकर एक साथी की पीठ-पीछे जा खड़ा हुआ। माँ उसे पकड़ने के लिए लपकी। बालक भागकर दूसरे किसी बालक की पीठ-पीछे जा खड़ा हुआ। दीवार के पीछे खडा रामलाल सहसा हँसने-लगा। माँ-बेटे के बीच जैसे होड होने लगी थी। माँ हँसती जाती और लपक-लपककर उसे पकड़ने की कोशिश करती। लड़का किलकारियाँ भरता, कभी एक तो कभी दूसरे लड़के के पीछे जा खड़ा होता।

"सच, तू बहुत बिगड़ गया है'''अच्छा मत आ, मैं जा रही हूँ।" और माँ बच्चों की ओर पीठ करके सड़क की ओर आने लगी। थोड़ी देर मे बालक अपने साथियों को छोड माँ के साथ आकर मिल गया। लडके का एक मोजा टखनों तक उतरा हुआ था, दूसरा घुटने तक चढा था, और वह बार-बार अपनी कोहनियो से ढलकती निक्कर को ऊँचा चढ़ा रहा था।

"तुमने मुझे पारी नही करने दी माँ, अब मुझे पारी करनी थी।"

और माँ कह रही थी :

"कल पारी खेल लेना। कल नही आयेगा क्या ?"

रामलाल को लगा जैसे कल कभी नही आयेगा, आज ही पारी खेली जा सकती है। उसे लगा जैसे बालक की माँ ने रामलाल को ही सुनाने के लिए यह वाक्य कहा हो।

आसपास के घरो में एक-एक करके बत्तियाँ जलने लगी थी। कहीं लाल, कही हरा, कही पीला शेड, रामलाल इन पर से भी आँखें नही हटा पा रहा था। उसे लगा जैसे जीवन का इन्द्रजाल उसके सामने है। उसने छज्जे की ओर आँख उठाकर देखा। वही युवती अभी भी पैरो से धुन पर ताल दिये जा रही थी और हाथ में कोई फल पकड़े खाये जा रही थी। रामलाल को फिर लगा जैसे उस युवती के स्वस्थ शरीर की महक वातावरण मे व्याप रही है।

सहसा पड़ोस मे कही से गाली-गलौज की आवाजें आने लगीं। पड़ोस मे ही कोई मकान बन रहा था। वहाँ मजदूरो की दो झोपड़ियाँ थी। शायद वही से आवाजें आ रही थी। जाने क्यों, रामलाल को यह भी अच्छा लगा, उसे लगा जैसे उसकी अपनी दुनिया की आवाजें हैं, उस दुनिया की जिसे वह लगभग छोड़ चुका था, पर किसी चमत्कारवश उसमें लौट आया है।

सहसा रामलाल घूम गया और हुमककर बोला, "आज खाने को क्या मिलेगा ?"

यह सवाल करते वक्त रामलाल की आवाज मे ललक थी। सुनकर सभी हँस पड़े।

"कैसे बच्चों की तरह पूछा है ! तुम क्या खाना चाहते हो ?" उसकी पत्नी ने पूछा।

"माँ, मैं तो सरसों का साग और मक्की की रोटी खाना चाहता हूँ।" उसने चटखारा लेते हुए कहा।

"मुँह धोकर आओ, अभी कुछ दिन तो साबूदाना ही मिलेगा।"

वह धीरे-धीरे चलता हुआ कुर्सी पर आकर बैठ गया। साथ वाले घर में नाच की धुन अभी भी बजे जा रही थी।

"लाओ, यार ज़रा ट्रांज़िस्टर तो लाओ।" रामलाल ने बरामदे की सीढ़ी पर बैठे अपने बेटे से कहा। बेटा भौंचक्का-सा माँ की ओर देखने लगा।

"क्यों, क्या बात है ? उसमें बैटरी नही डलवाई ?" रामलाल ने तनिक खीझकर पूछा।

पत्नी सशंक-सी अपने पति की ओर देखती रही, फिर धीरे-से बोली, "कसूर मेरा है जी, उसमें बैटरी डलवाना मैं भूल गयी। मैंने सोचा, दिल्ली पहुँचते ही डलवा लूँगी, पर यहाँ पहुँचकर भूल गयी। कल सुबह-सवेरे ही अविनाश को भेजकर बैटरी डलवा दूँगी।"

"तुम लोग एक छोटा-सा काम भी नही कर सकते ?" उसने तुनककर कहा।

"क्या हुआ जो एक दिन ट्रांजिस्टर पर गाना नहीं सुना तो।" बड़े भाई साहब बोले, "जाओ अविनाश, रेडियो लगा दो। बेशक, रात को भी रेडियो इसके कमरे में रख देना। मैं खुद रखवा दूंगा। सुन, जितना सुनना चाहता है।"

बड़े भाई की मौजूदगी मे चाची निःशंक होकर बोल सकती थी, उसे डर नही था कि उसका पति बिगड़ेगा।

"इनका स्वभाव बड़ा बदल गया है जी।" वह कहने लगी, "जिन चीजों की तरफ यह आँख उठाकर देखते भी नही थे, उन्ही के लिए अब यह ललकते रहते हैं। पहले ट्रांजिस्टर को देखना तक नही चाहते थे।

अविनाश बजाता तो उसे डांट देते थे। अब दिन भर उसमें चिपटे रहते हैं।"

"इसकी हवस जाग रही है, और क्या।" बड़े भाई साहब ने कहा, "फिर से बच्चा बन रहा है। इसके मन में धुकधुकी लगी रहती है कि फिर से खा-पी सकेगा या नहीं।"

'नहीं जी, ऐसी भी क्या बात है।" रामलाल धीरे-से बोला। और फिर उठकर आंगन की दीवार के बाहर देखने लगा।

बड़े भाई चलते हुए सहसा रुक गये और मानो अपनी ही किसी बात पर हँसकर बोले :

"इन्सान भी अजीब होता है। यही रामलाल बड़ी डींग मारकर कहा करता था कि मुझे जिन्दगी में ज़रा भी मोह नहीं है। जब बुलावा आयेगा तो उठकर चल दूंगा, पीछे मुड़कर देखूंगा भी नहीं···"

बरामदे की बत्ती जला दी गयी। बरामदे के सिरे पर लटकती फूलों की बेल रोशनी में जैसे झिलमिलाने लगी।

"हाय चाची, तुम्हारे कांटे प्यारे हैं।" भतीजी ने झटके से कहा। बरामदे की रोशनी जल जाने से चाची के बायें कान वाला कांटा चमकने लगा था। जब भी वह सिर हिलातीं, कांटे का नग चमक उठता।

"इनके ऑपरेशन के दिन के बाद आज पहने हैं।" उसने धीरे-से कहा और मुस्करा दी। इस मद्धम रोशनी में गाल पर खिंची चिन्ता की रेखा भी जैसे लुप्त हो गयी थी।

"मुबारक हो चाचाजी।" फाटक की ओर से आवाज़ आयी। रामलाल की बड़ी भतीजी सफेद चमकती साड़ी पहने वहीं से हाथ जोड़े-जोड़े अन्दर दाखिल हुई। उसके पीछे-पीछे उसका पति और उसकी एक मित्र भी थी। तीनों जने पहले चाचाजी, फिर चाचीजी को मुबारक देते हुए घास पर बिछी कुर्सियों पर बैठ गये। उनके आ जाने से वातावरण और भी हल्का हो गया।

नौकर लॉन के एक ओर खाटें बिछाने लगा था। एक पलंग के पास वह तिपाई पर लाल रंग का बड़ा-सा थर्मस और कांच का गिलास रख गया।

"वाह, थर्मस तो बड़ा नखरेदार है।" रामलाल चहककर बोला, 'देसी है या विलायती ?"

"क्यों, इस पर भी दिल आ गया है ?" उसकी पत्नी ने हँसकर कहा। "जब से डाक्टरों ने कहा कि फिक्र की कोई बात नहीं, इनका हाथ और भी खुल गया है। बिल्कुल बच्चों की तरह जिद्द करने लगते हैं।" फिर वह हँसकर एक किस्सा सुनाने लगी, "दिल्ली आते हुए हमारे डिब्बे में एक गुजराती औरत सफर कर रही थी। उसके पास हरे रंग का बड़ा-सा थर्मस था। हमारे पास मिट्टी की सुराही थी। बस जी, हरे रंग के थर्मस को देखकर यह बच्चों की तरह मचलने लगे। मैंने बहुत कहा, क्या फायदा फिजूल खर्च करने का, सुराही में भी पानी ठण्डा रहता है, पर नहीं जी, इन्होंने थर्मस लेकर छोड़ा। रास्ते में किसी बड़े स्टेशन पर मिल रहा था, अविनाश जाकर ले आया। पूरे पच्चीस खुल गये। ऐसे हैं। तेरे चाचाजी···।"

किसी-किसी वक्त बीच में परिवार का कोई व्यक्ति एकाध दार्शनिक वाक्य जोड़ देता। अबकी बार बड़ी भतीजी बोली, "जान है तो जहान है। पैसे का क्या है, चाचाजी की सेहत बनी रहे तो पैसा तो फिर भी आता रहेगा।"

इस पर छोटी भतीजी चहककर बोली, "चाचाजी, अब नयी मोटर कब आयेगी?"

रामलाल ने दीवार के पास खड़े-खड़े ही कहा, "बस अब तीन-एक महीने में तो मिल ही जानी चाहिए। पर सबसे पहले तो मैं घर का फर्नीचर ठीक करवाऊँगा। इतने बोझिल ढंग का फर्नीचर है कि मुझे देखकर कोफ्त होती रहती है।"

जीवन के जो सूत्र इस ऑपरेशन और बीमारी के समय हाथों में से छूट गये थे, रामलाल उन्हें फिर से लपककर पकड़ रहा था।

"नहीं-नहीं, कोई जरूरत नहीं।" बड़े भाई बीच में बोल पड़े, "वक्त पर सब कुछ होता रहेगा। पहले अभी अपनी सेहत का ख्याल रखना।"

सहसा रामलाल ने हुमककर कहा :

"एक बाजी ब्रिज की हो जाय, अब तो हम घर के ही चार आदमी हो गये।"

दोनों दामादों ने एक-दूसरे की तरफ देखा और मुस्करा दिये।

रामलाल ने फिर हुमककर कहा, "ऐसी की तैसी, चलो ताश खेलें, कुछ तो मजा आये।"

और यह दिखाने के लिए कि वह पूर्णतः स्वस्थ है, वह कुर्सी पर से उठा और आँगन पार कर, उछलकर बरामदे की सीढी चढ गया। और फिर बरामदे में घूमकर बोला, "आओ यार, एक बाजी हो जाय।"

दोनों दामाद और उनका मित्र उसके पीछे-पीछे बरामदा लाँघकर बैठक में चले गये।

रामलाल का विस्तर एक अलग कमरे में विछाया गया था। रात के वक्त जब रामलाल बिस्तर पर लेटा और उसकी पत्नी उसका माथा सहलाने लगी तो दोनों के बीच झगड़ा उठ खड़ा हुआ। बात मामूली-सी थी, पर बढ़ते-बढ़ते बढ गयी। रामलाल के पलंग के पायताने, पीली और हरी धारियों वाला एक कम्बल रखा था, जो बड़े भाई साहब ने उसके विस्तर पर रख दिया था।

"यह कम्बल बहुत अच्छा है, बड़ा मुलायम है। कल ऐसा ही एक कम्बल तुम भी खरीद लाना। भाई साहब से पूछ लेना कि कहाँ मिलता है..."

"अभी क्या जल्दी है जी, बाद में ले लेंगे। अब तो मैं चाहती हूँ, जल्दी से जल्दी घर पहुँचें।"

"ऐसी चीजें रोज-रोज नही मिलती, कभी-कभार ऐसा माल आता है, तुम मँगवा लेना।"

तभी बात बढ गयी। पत्नी ने पैसों की स्थिति बतायी तो रामलाल भड़क उठा, "तुम्हें पैसों की परवाह है, मेरी कोई परवाह नहीं? तुम्हारे स्टेशन मास्टर बाप ने सारी उम्र में इतना पैसा नहीं कमाया होगा, जितना मैं अपनी इस बीमारी पर खर्च कर चुका हूँ। तुम चिन्ता नहीं करो, मै मरूँगा नही, और जो मर भी गया तो तुम्हें तंगी में नही छोड जाऊँगा..."

बात इससे भी ज्यादा बढ जाती अगर घर अपना होता, अगर इस बात का डर नहीं होता कि बाहर लॉन में घर के लोग उनकी बातचीत सुन रहे होंगे। पत्नी धीरे-से उठी और आँखें पोंछती हुई बाहर चली गयी। रामलाल पड़ा-पड़ा छत की ओर ताकता रहा।

साथ वाली कोठरी मे पत्नी दबी-दबी आवाज में रोती-सुबकती रही, फिर आँखें पोंछ-पोंछकर लौट आयी और मुस्कराने की चेष्टा करती हुई पति के सिरहाने आकर बैठ गयी और पति का माथा सहलाने लगी। रामलाल ने बड़े आग्रह से पत्नी का हाथ लेकर चूम लिया, "मैं तुम लोगों को

बहुत परेशान कर रहा हूँ ना ?"

"हमें क्या परेशानी है, तुम तन्दुरुस्त हो जाओ···" पत्नी ने धीमे-से कहा।

पत्नी का हाथ अपने हाथ में लिये हुए रामलाल बोला :

"कल मुझे अपने हाथ की बनी रोटी खिलाना, और, कहीं से फूल-गोभी मिले तो मंगवा लेना।" फिर थोड़ी देर चुप रहने के बाद बोला, "और कल मलमल की बूटियों वाला कुरता भी निकलवा लेना। पाजामा पहनूंगा। जरा ठाठ हो जाये।"

पत्नी हँस दी। पति के माथे को सहलाती हुई बोली :

"गुस्सा नहीं किया करो, इतने बड़े आदमी हो, तुम्हें गुस्सा करना शोभा नहीं देता।"

"तुम माथा सहलाती हो तो मुझे बड़ा अच्छा लगता है।"

"और बच्चों की तरह चीजें भी नहीं मांगा करो।" पत्नी ने हँसकर कहा।

"क्या मांगा है, मैंने तो कुछ भी नहीं मांगा। तुम बताओ तो, मैंने क्या मांगा है ?"

"और नौकर-चाकरों के साथ रूखा भी नहीं बोला करो, बहुत भद्दा नजर आता है। उन बेचारों ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है ?"

"तुम क्या कह रही हो, मैं तो किसी के साथ भी रुखाई से नहीं बोलता।"

तभी रामलाल की पसलियों के बीच हल्का-सा दर्द हो उठा, ऑपरेशन के टाँकों के ऐन ऊपर। वह [illegible] ऐंठा और पत्नी [illegible] से दूसरी ओर करने लगा।

रामलाल ने कुरता ऊपर उठा लिया और उँगली से वह जगह दिखाने लगा जहाँ दर्द उठा था। तभी उसे उँगली के नीचे कुछ उभरा-सा लगा।

"यह क्या है ?"

"हटाओ तो हाथ।" पत्नी ने कहा। दो छोटी-छोटी फुंसियाँ थी जो टाँकों के ऐन इंच-भर ऊपर निकल आयी थीं।

"फुंसियाँ हैं छोटी-सी। ठीक हो जायेंगी।"

"मैं इन पर मर्करी वाली दवाई लगा देती हूँ।" पत्नी ने फिर कहा, पर जब पति की ओर देखा तो पति की आँखों में आतंक छाया था। त्रास में आँखें और भी ज्यादा फैल गयी थी और वह एकटक पत्नी के चेहरे की ओर देखे जा रहा था।

"यह कोई नयी बात तो नहीं आ रही है ?" उसने घबराकर पूछा।

"कैसी बच्चों की-सी बातें करते हो।" पत्नी ने कहा, फिर हँसकर बोली, "ऑपरेशन से तो डरे नहीं, अब छोटी-छोटी फुंसियों से डरने लगे।"

रामलाल बिस्तर पर लेट गया और पत्नी फिर उसका माथा सहलाने लगी।

"तुम माथा सहलाती हो तो मुझे बड़ा अच्छा लगता है।" उसने कहा, फिर कुछ देर चुप रहने के बाद बोला, "भाई साहब ने एक बार भी नही कहा कि मैं ठीक हो रहा हूँ, कि अब कोई खतरा नही है, मुझे चिन्ता नही करनी चाहिए। वह सारा वक्त चुप बने रहे।" फिर अपनी पत्नी का हाथ पकड़कर बड़े दीन स्वर में बोला, "मैं ठीक हो जाऊँगा न कृष्णा ?"

अस्पताल के बरामदे बीहड़ और सूने लगने लगे थे। चारों ओर चुप्पी छाई थी। मरीज़ के जीने की उम्मीद न रहे तो अस्पताल के बरामदे सहसा सूने पड़ जाते हैं और चारों ओर जैसे धूल उड़ने लगती है। लगता है जैसे मौत का भेड़िया दबे पाँव बरामदे में घूम रहा है, जाने किस वक्त किस कमरे में घुस जाये। दूर लिफ्ट के पास बिजली की रोशनी के नीचे एक बूढ़ी स्त्री किसी वयोवृद्ध के साथ फुसफुसाकर बातें कर रही थी। दायें हाथ, मैदान के पार अस्पताल की एक विशालकाय इमारत अन्धकार के भयावह पुंज की तरह खड़ी थी। गलियारों की बत्तियाँ, लगता, व्यर्थ ही जल रही हैं, इनसे किसी को कोई लाभ नही होगा।

रामलाल की पत्नी और बड़े भाई साहब बरामदे की रेलिंग के सहारे

खड़े थे। इजेक्शन के बाद रामलाल अन्दर पड़ा सो रहा था। हर इजेक्शन के बाद वह लगभग आठ घण्टे तक गहरी नींद में पड़ा रहता, और जब जागता तो एक सीढी और नीचे उतर चुका होता था।

बरामदे में बायीं ओर टक-टक जूतों की आवाज़ आयी। तीन नर्सें हँसती हुई चली आ रही थी। नर्सों की शिफ्ट बदल रही थी, दिन की ड्यूटी खत्म करके तीन-तीन, चार-चार की टोलियों में बतियाती नर्सें सीढियाँ उतर रही थीं और रात की नर्सें बर्फ-से सफेद लबादे पहने, हँसती-चहकती अपने काम पर आ रही थीं। जब ये तीनों नर्सें पास से गुजरी तो हल्की सी पाउडर की महक आयी।

"मैं कभी-कभी सोचती हूँ, सेबों का रस देना बन्द कर दूं। डेढ़-डेढ़ रुपये का एक सेब आता है।" रामलाल की पत्नी ने कहा। थकावट के कारण उसकी टाँगें मन-मन की हो रही थी। और सो न पा सकने के कारण सारा वक्त आँखों में सुइयाँ चुभती रहती थीं।

"इसके शरीर में अब कुछ रह नहीं गया है। सेबों का रस पिये या अंगूर का।" बड़े भाई साहब ने छेड़ा।

डाक्टर ने महीना-भर पहले ही कह दिया था कि उसका पति जियेगा नहीं। पहले तो वह नहीं मान पायी थी, पर अब धीरे-धीरे वह इस अनिवार्य स्थिति की अभ्यस्त होती जा रही थी। अब उसे रह-रहकर विचार आता कि मुर्दे के मुँह में फलों का रस उँड़ेलने से क्या लाभ? क्यों नहीं मैं अपने बेटे को फलों का रस दिया करूँ जिसकी जवान हड्डियों को रस की ज़रूरत है, और जो सुबह-शाम रूखी रोटियाँ खाकर अपने बाप की सेवा करता है। बरामदे में खुलनेवाली खिड़की में से अविनाश बैठा नज़र आ रहा था, माँ थकी हुई आँखों से बेटे के चेहरे की ओर देखे जा रही थी। बेटे के चेहरे की ओर देखना उसे अच्छा लग रहा था। अविनाश के होंठों के ऊपर जवानी के रोयें उग आये थे और हल्की दाढ़ी भी उगने लगी थी।

"तीन रुपये के दो सेब सुबह मिले थे और वे भी छोटे-छोटे। अगर फायदा हो तब तो आदमी देता रहे। और वे आसानी से मिलते भी नहीं..."

रामलाल जीवन की गति से कट गया था और अब पीछे छूटता जा रहा था। उसकी स्थिति उस सूखे पत्ते-सी हो रही थी, जो मामूली-से सहारे के साथ अभी भी पेड़ के साथ अटका हुआ है, पर आसपास के हरे

पत्तों के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है। मरने का नाम मुँह पर कोई नहीं लाना चाहता था लेकिन मन-ही-मन घर के लोग तरह-तरह के हिसाब लगाने लगे थे। अगर मरना इन तीन महीनों में हो जाये तो रामलाल पूरी तनख्वाह लेता हुआ मरेगा, अगर तीन महीनों के अन्दर मरना नहीं हो तो तनख्वाह आधी रह जायेगी, और सरकारी बँगला भी छोड़ना पड़ेगा···

"उँह···उँह !" अन्दर से आवाज आयी।

"जाग गये हैं, चलूँ," कृष्णा ने कहा और चिक उठाकर अन्दर चली गयी। बड़े भाई सोच में डूबे बाहर खड़े रहे।

दूसरे क्षण सहसा अन्दर से एक जोर की चीख सुनायी दी। कृष्णा की आवाज थी। बड़े भाई साहब लपककर अन्दर आये। देखा कि रामलाल ने अपनी पत्नी की कलाई में अपने दाँत गाड़ दिये हैं, और कृष्णा अपना बाजू छुड़ाने के लिए छटपटा रही है। बड़े भाई को देखते ही रामलाल ठिठक गया, और कृष्णा का बाजू छोड़ दिया···कृष्णा बाजू को दबाये पिछली कोठरी में चली गयी जहाँ अविनाश घबराया हुआ खड़ा था। रामलाल सहसा फिर बिफर उठा और पागलों की तरह अपना सिर दायें-बायें झटकने लगा। कृष्णा की कलाई पर दाँतों के गहरे निशान पड़ गये थे, दो-एक जगह पर से खून भी निकल आया था।

"तुम्हें क्या हो गया है रामलाल ? क्या बात है ?"

पर रामलाल पागलों की तरह सिर हिलाये जा रहा था। फिर सहसा अपने कुर्ते को दोनों हाथों से पकड़कर फाड़ने लगा। बटन खोलकर वह कालर को दोनों ओर खींचने लगा। इस बीच उसके हाथ काँपने लगे और वह हाँफने लगा। यह जानकर कि खींचने से कुर्ता नहीं फटेगा, वह उसे दाँतों से फाड़ने की कोशिश करने लगा। बड़े भाई साहब ने आगे बढ़कर उसका हाथ पकड़ा तो वह उन्हें भी काटने को झपटा, पर बड़े भाई साहब ने हाथ खींच लिया।

इतने में अस्पताल का भंगी चिलमची उठाये अन्दर आया। रामलाल उसे देखकर चिल्लाने लगा।

"इधर आओ जमादार, इधर आओ। तुम मेरा कुर्ता फाड़ दो, फाड़ दो, इसे फाड़ दो···"

भंगी रुक गया और कभी मरीज की ओर तो कभी बड़े भाई साहब की

बैठे। राम्लाल दीवार की ओर मुंह किये 'उँह'''उँह' कर रहा था।

"ला बाबू, तेरी टाँगें दबा दूं, तू भी क्या याद करेगा !" उन्होंने हँसते हुए कहा।

बड़े भाई ने रूमाल से रामलाल का माथा पोंछा, फिर उसके माथे पर हाथ फेरा। रामलाल उस वक्त बायीं करवट लेटा सामने दीवार की ओर देखे जा रहा था। वह पहले से बहुत छोटा लग रहा था। उसका चेहरा पीलिया के मरीज़ जैसा हो रहा था। हर साँस से उँह की आवाज निकलती थी। दोनों टाँगें, जिन पर के पाँइचे घुटनों तक ऊपर उठे थे, सूखकर लकड़ी की खपच्चियों-सी लग रहे थे। भाई साहब ने देखा, बायें घुटने के नीचे से दो चींटियाँ चादर पर चलने लगी थीं। "अभी से चींटियाँ आ पहुँची हैं," उन्होने मन-ही-मन कहा और हाथ से दोनों चींटियों को झाड़कर हटा दिया और फिर रामलाल का माथा सहलाने लगे।

"भाई साहब, मुझे बड़ा अच्छा लगता है," रामलाल ने कहा, "लगता है जैसे माथे पर माँ ने हाथ रख दिया है," और दूसरे क्षण उसने अपने भाई का हाथ पकडकर चूम लिया, और सुबक-सुबककर रोने लगा। "मुझे बड़ा अच्छा लगता है, बड़ा अच्छा लगता है।" वह बच्चों की तरह कहने लगा और बड़े भाई का हाथ बार-बार चूमने लगा।

"मैं आप लोगों को बहुत कष्ट दे रहा हूँ, मैं बहुत बुरा हूँ, मैं बहुत बुरा हूँ'''"

उसे उद्वेलित देखकर भाई साहब का निश्चय डगमगाने लगा, और उनका गला भर आया। फिर आवाज को संयत करके बोले, "शरीर के साथ दुख-सुख लगे रहते हैं, रामलाल। तू दिल छोटा नही कर। तू दिल छोटा करेगा तो तेरे घरवाले घबरा जायेंगे।"

"आप ठीक कहते हैं, भाई साहब।"

"सुन रामलाल, तुझे किस्सा सुनाऊँ," बड़े भाई कहने लगे, "हमारे गाँव मे एक थानेदार हुआ करता था। फीरोजपुर से आया था। उसे तपेदिक हो गया। उन दिनों तपेदिक की बड़ी दहशत हुआ करती थी, मर्ज़ को लाइलाज माना जाता था। पर उसे डाक्टर ने साफ-साफ बता दिया कि तू बच नही सकता। वह घर आया और घरवालो को इकट्ठा करके बोला, 'लो भाई, मेरा तो वारंट निकल आया है, मैं तो जा रहा हूँ। मैं अब तुम्हारे साथ नही रहूँगा,' और उसी दिन अपना बिस्तर उठाकर थाने मे

की ग्रोर देखने लगा।

"जैसे कहता हूँ कर दो, जमादार, बेनक फाड़ दो इसे। किसी तरह चैन मिले।"

भंगी ने अपना झाड़ू कोने मे रखा और पास आकर रामलाल के कुर्ते को दोनों हाथों से छाती पर से पकड़ लिया ग्रौर देखते-ही-देखते उसे चिथड़े-चिथड़े कर दिया। रामलाल बैठा हाँफता रहा ग्रौर फटी ग्रांखों से सामने की ग्रोर देखता रहा।

"फाड़ दो, फाड़ दो मेरा चोला, फाड़ दो..."

दो नर्सें बाहर से दौड़ी ग्रायी, एक ने रामलाल के दोनों हाथ पकड़ लिये, दूसरी ने उसका सिर थाम लिया...

घण्टा-भर बाद कृष्णा ग्रौर बड़े भाई फिर बरामदे मे खड़े थे। ग्रन्दर ग्रविनाश पलग पर बैठा बाप के पाँव दबा रहा था।

"जिन्दगी से चिपटा हुग्रा है" बड़े भाई ने बुदबुदाकर कहा, मानो ग्रपने-ग्रापसे बातें कर रहे हों।

कृष्णा ने ग्रांख उठाकर भाई साहब की ग्रोर देखा, पर बोली कुछ नही।

"इसे बता देना चाहिए।" बड़े भाई साहब ने धीमी ग्रावाज़ में कहा।

"इन्हें ग्रन्दर ही ग्रन्दर सब मालूम है जी, पर यह इसे कबूलना नही चाहते।"

"कबूलेगा नही तो खुद भी तड़पेगा ग्रौर हमें भी तड़पायेगा। ग्रब जहाँ इलाज ही नही वहाँ क्या किया जाये!"

फिर दोनों के बीच चुप्पी छा गयी। दोनों मन-ही-मन दुखी थे।

रामलाल को उसकी वास्तविक स्थिति से ग्रवगत करा देने की बात बार-बार उनके मन मे उठती रही थी। पर वह इसे स्थगित करते रहे, यह सोचकर कि रामलाल को और ग्रधिक कमज़ोर हो जाने दिया जाये। ज्यादा दुबला हो जाने पर वह ग्रपनी स्थिति को जल्दी कबूल कर लेगा। लेकिन ग्रब ग्रौर इंतज़ार नही करना चाहिए। जो काण्ड उसने ग्राज किया है, वह फिर भी कर सकता है। उसे ग्रपनी स्थिति को समझ लेना चाहिए, इसी में उसका हित है। उसे जान लेना चाहिए कि वह मर रहा है।

बड़े भाई साहब चिक उठाकर कमरे के ग्रन्दर चले गये। ग्रविनाश को वहाँ से हट जाने का इशारा किया, ग्रौर खुद रामलाल के पलंग पर जा

बैठे। राम्लाल दीवार की ओर मुंह किये 'उँह'''उँह' कर रहा था।

"ला बाबू, तेरी टाँगें दबा दूं, तू भी क्या याद करेगा!" उन्होंने हँसते हुए कहा।

बड़े भाई ने रूमाल से रामलाल का माथा पोंछा, फिर उसके माथे पर हाथ फेरा। रामलाल उस वक्त बायीं करवट लेटा सामने दीवार की ओर देखे जा रहा था। वह पहले से बहुत छोटा लग रहा था। उसका चेहरा पीलिया के मरीज़ जैसा हो रहा था। हर साँस से उँह की आवाज़ निकलती थी। दोनों टाँगें, जिन पर के पांइचे घुटनों तक ऊपर उठे थे, सूखकर लकड़ी की खपच्चियों-सी लग रहे थे। भाई साहब ने देखा, बायें घुटने के नीचे से दो चीटियाँ चादर पर चलने लगी थी। "अभी से चीटियाँ आ पहुँची हैं," उन्होंने मन-ही-मन कहा और हाथ से दोनों चीटियों को झाड़कर हटा दिया और फिर रामलाल का माथा सहलाने लगे।

"भाई साहब, मुझे बड़ा अच्छा लगता है," रामलाल ने कहा, "लगता है जैसे माथे पर माँ ने हाथ रख दिया है," और दूसरे क्षण उसने अपने भाई का हाथ पकड़कर चूम लिया, और सुबक-सुबककर रोने लगा। "मुझे बड़ा अच्छा लगता है, बड़ा अच्छा लगता है।" वह बच्चों की तरह कहने लगा और बड़े भाई का हाथ बार-बार चूमने लगा।

"मैं आप लोगों को बहुत कष्ट दे रहा हूँ, मैं बहुत बुरा हूँ, मैं बहुत बुरा हूँ'''"

उसे उद्वेलित देखकर भाई साहब का निश्चय डगमगाने लगा, और उनका गला भर आया। फिर आवाज़ को संयत करके बोले, "शरीर के साथ दुख-सुख लगे रहते हैं, रामलाल। तू दिल छोटा नही कर। तू दिल छोटा करेगा तो तेरे घरवाले घबरा जायँगे।"

"आप ठीक कहते है, भाई साहब।"

"सुन रामलाल, तुझे किस्सा सुनाऊँ," बड़े भाई कहने लगे, "हमारे गाँव मे एक थानेदार हुआ करता था। फीरोजपुर से आया था। उसे तपेदिक हो गया। उन दिनों तपेदिक की बड़ी दहशत हुआ करती थी, मर्ज को लाइलाज माना जाता था। पर उसे डाक्टर ने साफ-साफ बता दिया कि तू बच नही सकता। वह घर आया और घरवालों को इकट्ठा करके बोला, 'लो भाई, मेरा तो वारंट निकल आया है, मैं तो जा रहा हूँ। मैं अब तुम्हारे साथ नही रहूँगा,' और उसी दिन अपना बिस्तर उठाकर थाने में

रहने के लिए चला गया। घरवालों से नाता तोड़कर मौत के साथ नाता जोड लिया। है न हिम्मत की बात ! मरा लगभग पांच बरस बाद, मगर हँसते-हँसते मरा।"

"आप ठीक कहते हैं भाई साहब," रामलाल ने धीमी-सी आवाज़ में कहा। बड़े भाई को लगा जैसे रामलाल ने उनका अभिप्राय समझ लिया है और उस पर विचार करने लगा है।

"अगर तू सोचे तो तुझे किसी बात की चिन्ता नही होनी चाहिए।" वडे भाई कहते गये। "कोई ज़िम्मेदारी तेरे सिर पर नही रह गयी है। नौकरी तूने इज्जत से की है। किसी ने तुझ पर उँगली तक नही उठायी। रामलाल, ज़िन्दगी मे और क्या चाहिए ! बच्चे तेरे ठिकाने लग गये हैं। अगर तू चला भी जाये तो भी तुझे हँसते-हँसते…"

"आप ठीक कहते है, मैं सचमुच बड़ा खुशकिस्मत हूँ," रामलाल ने धीरे-से कहा। उसने वडे भाई का हाथ पकड़ लिया और उसे अपने दायें गाल के साथ सटा लिया।

"तुम्हें अपने को अपनी किस्मत पर छोड़ देना चाहिए। जो होगा देखा जायेगा। तेरे मर्ज़ का कोई इलाज नही है। डाक्टरो ने कह दिया है… " इससे आगे बड़े भाई नही कह पाये।

थोड़ी देर तक चुप्पी छायी रही। बड़े भाई एक हाथ से उसका कन्धा दबाते रहे। कुछ देर बाद रामलाल ने धीमी आवाज़ में कहा—

"भाई साहब !"

"क्या है, रामलाल ?"

"कहते हैं होम्योपैथिक दवाई मे बडी शफा होती है। वह कर देखूं ?"

बड़े भाई का हाथ ठिठक गया। रामलाल उनके आशय को नही समझ पाया था, या समझना नही चाहता था।

"कोशिश करना हमारा फर्ज़ है रामलाल, आगे भगवान मालिक है…"

पर उस रात इंजेक्शन दिये जाने से पहले रामलाल फिर से चहकने लगा था। उसने पीठ पीछे एक-एक करके पांच सिरहाने रखवाये।

"और एक रख दो भाई साहब, जैसे बचपन में आराम-कुर्सी बनाया करते थे।" रामलाल ने खिलवाड करते हुए कहा। फिर गोद में दोनों हाथ रखकर बोला, "लो भाई, दो बातें हो जायें, शरीर का क्या भरोसा। सबने

पहले, भाई साहब, आप लिखते जाइए, मेरी एक ही वारिस है और वह है मेरी पत्नी। मेरा सब-कुछ उसी का है। पर यार, यह सब तो मैंने पहले ही लिखकर दे दिया है, 'विल' तो मैं कब की लिख चुका हूँ।" पत्नी धीरे-से मुंह मे दुपट्टे का छोर ठूंसती हुई कमरे के बाहर चली गयी। रामलाल की नजर अविनाश पर टिकी हुई थी। हँसकर बोला—

"आ, यार, अविनाश, इधर मेरे सामने बैठ, तू भी क्या याद करेगा कि आपने कभी पूछा ही नहीं। भाई साहब, अगर यह विलायत जा सके तो इसे ज़रूर भेजना। और कुछ खाया-पिया कर, देख तो कैसा चेहरा हो रहा है…"

देर तक वह हँसता-बतियाता रहा। जब नर्स इंजेक्शन देने आयी तो वह पहले से ही थककर निढाल-सा बिस्तर पर पड़ा था।

बहुत दिनों के बाद आज धूप निकली थी। हवा मे आनेवाले पतझर की चुभन थी, हल्की-हल्की खुनक और धूप पीली पड़ गयी थी।

समेटने को बहुत-सा सामान था। पिछले कमरे मे खाट पर पड़ा बिस्तर वैसे-का-वैसा बन्द पड़ा था जैसा पहले दिन, जब रामलाल को अस्पताल मे लाया गया था। उसकी पत्नी बँधे-बँधाये बिस्तर पर ही किसी-किसी वक्त सिर रखकर झपकी ले लिया करती थी। टिफिन कैरियर बड़े भाई साहब के घर से आया था, स्टोव चाची के बड़े भाई ने अपने घर से भेजा था। ये चीज़ें अलग कर दी गयी थी। बहुत-सा सामान एक बहुत बड़ी-सी गठरी मे जैसे-तैसे बाँध दिया गया था।

बाहर बरामदे में अविनाश रेलिंग के सहारे खड़ा था। उसने नज़र उठाकर देखा। दायी ओर, दूर से युवा डाक्टर चला आ रहा था। अविनाश समझ गया कि वह इसी कमरे की ओर आ रहा है। डाक्टर बरामदे के खम्भों के साथ-साथ चला आ रहा था। उसका सफेद लबादा धूप मे चमक रहा था। हर खम्भे के सामने से गुज़रते हुए, साये की लकीर तिरछी होकर उसके सारे शरीर को जैसे काट जाती। उसके चमचमाते काले बूट बड़े भले लग रहे थे। स्टेथस्कोप उसके गले मे झूल रहा था। उसके चमचमाते बूटों, सफेद लबादे और गले मे झूमते स्टेथस्कोप को देखकर पहले दिन ही अविनाश ने मन-ही-मन डाक्टर बनने का निश्चय कर लिया था। तब उसके गले में स्टेथस्कोप झूला करेगा और हाथों से साबुन की महक आया करेगी।

पहले, भाई साहब, आप लिखते जाइए, मेरी एक ही वारिस है और वह है मेरी पत्नी। मेरा सब-कुछ उसी का है। पर यार, यह सब तो मैंने पहले ही लिखकर दे दिया है, 'विल' तो मैं कब की लिख चुका हूँ।" पत्नी धीरे-से मुंह में दुपट्टे का छोर ठूंसती हुई कमरे के बाहर चली गयी। रामलाल की नजर अविनाश पर टिकी हुई थी। हँसकर बोला—

"आ, यार, अविनाश, इधर मेरे सामने बैठ, तू भी क्या याद करेगा कि आपने कभी पूछा ही नहीं। भाई साहब, अगर यह विलायत जा सके तो इसे ज़रूर भेजना। और कुछ खाया-पिया कर, देख तो कैसा चेहरा हो रहा है···"

देर तक वह हँसता-बतियाता रहा। जब नर्स इंजेक्शन देने आयी तो वह पहले से ही थककर निढाल-सा बिस्तर पर पड़ा था।

बहुत दिनों के बाद आज धूप निकली थी। हवा में आनेवाले पतझर की चुभन थी, हल्की-हल्की खुनक और धूप पीली पड़ गयी थी।

समेटने को बहुत-सा सामान था। पिछले कमरे में खाट पर पड़ा बिस्तर वैसे-का-वैसा बन्द पड़ा था जैसा पहले दिन, जब रामलाल को अस्पताल में लाया गया था। उसकी पत्नी बँधे-बँधाये बिस्तर पर ही किसी-किसी वक्त सिर रखकर झपकी ले लिया करती थी। टिफिन कैरियर बड़े भाई साहब के घर से आया था, स्टोव चाची के बड़े भाई ने अपने घर से भेजा था। ये चीजें अलग कर दी गयी थीं। बहुत-सा सामान एक बहुत बड़ी-सी गठरी में जैसे-तैसे बाँध दिया गया था।

बाहर बरामदे में अविनाश रेलिंग के सहारे खड़ा था। उसने नजर उठाकर देखा। दायीं ओर, दूर से युवा डाक्टर चला आ रहा था। अविनाश समझ गया कि वह इसी कमरे की ओर आ रहा है। डाक्टर बरामदे के खम्भों के साथ-साथ चला आ रहा था। उसका सफेद लबादा धूप में चमक रहा था। हर खम्भे के सामने से गुजरते हुए, साये की लकीर तिरछी होकर उसके सारे शरीर को जैसे काट जाती। उसके चमचमाते काले बूट

[illegible]

तब उसके गले में स्टेथस्कोप झूला करेगा और हाथों से साबुन की महक आया करेगी।

अविनाश रेलिंग के सहारे सीधा खड़ा हो गया । डाक्टर हमेशा कोई नया सन्देश देने आया करता था। पर जब वह ऐन कमरे के सामने पहुँचा तो बड़े भाई साहब निकल आये ।

"घंटे-भर में अस्पताल की एम्बुलेन्स आ जायेगी'''मैंने स्ट्रेचर का भी इन्तज़ाम कर दिया है। आपको कोई दिक्कत नहीं होगी ।"

यह कहकर वह आगे बढ़ गया ।

बड़े भाई साहब ने उसे रोकने की चेष्टा करते हुए कहा, "अगर मेरा भाई कुछ दिन ही का मेहमान है तो उसे यहीं क्यों न पड़ा रहने दें ! इस हालत में उसे क्यों परेशान करें ?"

डाक्टर रुक गया। तराशी हुई मूँछों के नीचे उसके दाँत चमके, बड़े भाई साहब के कन्धे पर हाथ रखकर वह धीमे-से बोला, "लालाजी, कमरा रुका हुआ है, हमें दूसरे मरीज़ के लिए कमरा चाहिए ।"

फिर यह देखकर कि बड़े भाई साहब फिर आग्रह करेंगे, वह बोला, "अस्पताल में उन लोगों को रखते हैं जिनके जीने की उम्मीद होती है। हम किसी दूसरे मरीज़ को यहाँ रखेंगे जिसका हम कुछ इलाज कर सकते हैं ।" और बड़े भाई साहब के कन्धे पर से हाथ हटाकर आगे बढ़ गया ।

अन्दर से रामलाल की आवाज़ आने लगी थी । वह हाँफती आवाज़ में बच्चों की तरह शिकायत कर रहा था, "मेरे पास कोई नहीं बैठता''' मुझे एक बार ठीक हो जाने दो, मैं तुम लोगों को मज़ा चखा दूँगा ।"

बड़े भाई अन्दर लौट गये । रामलाल का वाक्य सुनकर अनायास ही वह मुस्करा दिये ।

रामलाल ने एम्बुलेन्स में जाने से इनकार कर दिया ।

"मैं एम्बुलेन्स में नहीं जाऊँगा ।"

"तो कैसे जाओगे ?"

"मैं टैक्सी में जाऊँगा, या किसी मोटर में जाऊँगा । मैं एम्बुलेन्स में, मरीज़ की गाड़ी में नहीं जाऊँगा ।"

बड़े भाई साहब उसके चेहरे की ओर देखते रह गये ।

रामलाल ने ऐसी ज़िद्द पकड़ी कि सबको झुकना पड़ा । सबने बहुत समझाया कि स्ट्रेचर को मोटरकार के अन्दर ले जाना नामुमकिन होगा, पर वह नहीं माना । लाचार होकर उन्होंने मोटर का इन्तज़ाम किया ।

स्ट्रेचरवाले ऐन वक्त पर पहुँच गये । डाक्टर भी साथ में था । पहले एक

करवट बदलकर, फिर दूसरी करवट बदलकर जैसे-तैसे रामलाल को स्ट्रेचर पर लिटा दिया गया।

सीढ़ियां उतरने पर, अस्पताल के बाहर जब स्ट्रेचर को ज़मीन पर रखा गया तो परिवार के लोगों के अतिरिक्त और भी लोग इकट्ठे हो गये। स्ट्रेचर को सचमुच मोटरगाडी के अन्दर नहीं ले जाया जा सकता था। रामलाल ने आँखें खोली तो अपने आसपास उसे जूते-ही-जूते नज़र आये। बहुत-से लोग स्ट्रेचर के आसपास खड़े थे, ये उन्हीं के जूते थे। पैर-ही-पैर, जूते-ही-जूते। इतना नीचे रामलाल कभी नहीं लेटा था। सामने क्रीम रंग की कार खड़ी थी जो उसे लेने आयी थी।

किसी ने झुककर रुमाल से रामलाल का माथा पोंछ दिया। उसने खीझकर आँखें बन्द कर ली। फिर वह सहसा बायीं कोहनी का सहारा लेकर अधलेटा-सा उठ बैठा। अविनाश ने आगे बढ़कर उसकी कमर में हाथ दिया।

"पिताजी, आपको उठाकर मोटर में बिठा दूं ?"

पर रामलाल दायां हाथ स्ट्रेचर की बाँहों पर रखकर उठ बैठा। अविनाश और बड़े भाई साहब ने अपने हाथ उसकी बगलों के नीचे दे दिये। रामलाल लडखडाता हुआ अपनी टाँगों के बल पर खडा हो गया, और मोटरगाडी की ओर लरजते पैर बढ़ाने लगा।

"चाचाजी में हिम्मत बड़ी है।" पीछे से आवाज आयी। रामलाल को सुनकर सन्तोष हुआ। वह उचककर पैर बढ़ाता मोटर की ओर जाने लगा। मोटर के पास पहुँचकर उसने अपना काँपता हाथ उठाकर मोटर के दरवाज़े को पकड़ा, फिर अपने ही बल पर तनिक उचका और मोटर के अन्दर प्रवेश कर गया। सारा वक्त बड़े भाई साहब और अविनाश उसकी बगलों के नीचे हाथ दिये रहे। वह हाँफता हुआ शीशे के पीछे सीट पर बैठ गया था। रामलाल को पूरा यकीन था कि उसे यों बैठे देखकर कोई नहीं कह सकता कि वह मरीज़ है।

●

डोरे

उनकी रुचि को वह जानती थी। आसमानी रंग उसका चहेता रंग था। जिन डोरों से अर्चना उसके साथ बँधी थी वे उनकी रुचियों के डोरे भी थे। वर्षों ही इन डोरों की लपेट में बीत गये थे। और उनके साथ-साथ प्यार की कसमों के डोरे, एक साथ बिताई शामों के डोरे, भविष्य के मंसूबों के डोरे। पीछे मुड़कर देखो तो कभी-कभी लगता जैसे कोई खिलवाड़-सा चलता रहा है, बचकाना, बेमानी-सा, पर अर्चना की ज़िन्दगी अभी भी इन डोरों पर झूल रही है, उनकी जकड़ मानो और अधिक कसती जा रही है।

आसमानी रंग की साड़ी पहने वह देर तक शीशे के सामने खड़ी रही। फिर जूड़ा बांधते-बांधते वह सहसा शीशे के सामने बैठ गयी, और सलाई लेकर मांग में रंग भरने लगी। कभी वह यों ही खेल-खेल में, मांग में रंग भरा करती थी, और मांग में रंग भरने के बाद, लगभग सदा ही उसके गालों पर लाली दौड़ जाती थी। मांग में रंग भरने से उसे अपना चेहरा खिला-खिला लगा, भरा-भरा, मानो उसमें गृहिणी का ऐश्वर्य झलकने लगा हो, मानो किसी अभाव की सहसा पूर्ति हो गयी हो। वह कुछ देर तक कभी एक कोण से तो कभी दूसरे कोण से अपना चेहरा देखती रही। फिर सहसा उसने घड़ी देखी और मेज़ पर से रुई का फाहा उठाकर मांग में से रंग पोंछने लगी। देर तक पोंछते रहने पर भी हल्की-सी लाली का भास बना रहा। अर्चना उठी, अपना बैग सँभाला, खिड़कियां बन्द कीं, कमरे को ताला लगाया और सीढ़ियां उतर गयी।

दफ्तर में हर बात पटरी पर आ गयी थी, बँधी-बँधायी दिनचर्या

मानो अपने-आप सम गति से चलती जा रही थी। दफ्तर की साथिनो के साथ ग्यारह बजे चाय, कभी-कभी दफ़्तर की चारदीवारी के बाहर पेड़ के नीचे बैठे पनवाड़ी से पान का बीड़ा—सभी साथिनें बतियाती, ठुमक-ठुमक चलती वहां पहुँच जाती, फिर एक बजे दफ्तर की कैन्टीन में भोजन —सभी मेज पर अपने-अपने डिब्बे खोलकर बैठ जाती। दफ्तर में काम करनेवाली स्त्रियों की अपनी मण्डलियां बन गयी थी। कैन्टीन में छोटी उम्र की लड़कियाँ अलग बैठती और सारा वक्त चहकती रहती, बात-बे-बात पर हँसती, सिनेमा-फिल्मो के वार्तालाप दोहराती, फिल्मी गीत गुन-गुनाती, पैसे जोड़-जोड़कर नयी साड़ियां खरीद पाने की बात करती। अर्चना इनके बीच बैठना चाहती थी, पर इनमें खप नही पाती थी।

बड़ी उम्र की स्त्रियों का अलग मेज था। उनमे ठहराव था, वे चौका-रसोई की बातें करती, चप-चप करके खाना खाती, बुझी-बुझी थुल-थुल औरतें, सास-ससुर, पति और बच्चों की बातें करती। अर्चना इन्ही के साथ बैठती थी, इनके साथ वर्षों का साथ था, पर अर्चना इनमें भी खप नही पाती थी, मन बार-बार उचट जाता था। उनके बीच बैठते हुए भी कुछ-न-कुछ सारा वक्त खलता रहता था।

"आज तो बहुत बढ़िया साड़ी पहनकर आयी हो, अर्चना!" मिसेज वर्मा ने कहा।

"सभी यही कहती हैं। जब से दफ्तर में आयी हूँ, जो मिलता है यही कहता है।" अर्चना ने इठलाकर कहा।

"आज तो तुम सचमुच सुन्दर लग रही हो।"

"सच?" और अर्चना की कमर में एक और बल आया।

"आज कोई खास बात जान पड़ती है। तेरा जन्म-दिन है क्या?"

"जन्म-दिन हुआ तो खुद बता दूंगी। मेरा जन्म-दिन नही है।"

"किसी का तो है। बता दे, किसका जन्म-दिन है?"

अर्चना क्षण-भर के लिए रुकी, फिर धीरे से हँसकर बोली, "आज बिट्टू का जन्म-दिन है।"

बिट्टू के जन्म-दिन की बात सुनकर सभी चुप हो गयीं। इस विषय पर बात करना सभी को अटपटा लगा करता था। तभी अर्चना झट-से बोली:

"आज चाय मैं पिलाऊँगी। पान भी मैं खिलाऊँगी।"

"चलो तो पहले पान ही खाने चलती हैं। चाय किसी अच्छे रेस्तरां में पियेंगी, कैन्टीन मे क्यों पियेंगी।" मिसेज़ वर्मा ने कहा और बैग संभालकर उठ खड़ी हुई। और सभी बतियाती हुई कैंटीन के बाहर आ गयी।

आँगन पार करते समय गोमती और मिसेज़ वर्मा पीछे रह गयी, और धीरे-धीरे चलने लगी। अर्चना अन्य दो साथिनों, मीरा और सुरजीत के साथ आगे-आगे चली जा रही थी। अर्चना को खटक गया था कि गोमती और मिसेज़ वर्मा जान-बूझकर पीछे रहने लगी हैं। गोमती ज़रूर मेरे खिलाफ कोई बात करने लगी होगी। यदि रोज़ के रोज गोमती साथ मे न थी न हो जाया करे, बाकी साथिनें तो मेरी सहेलियां हैं, मुझसे प्यार करती हैं, मेरी स्थिति को जानती-समझती हैं, केवल एक गोमती ही सारा वक्त बिच्छू की तरह काटती रहती है।

गोमती और मिसेज़ वर्मा, दोनों बुझी-बुझी औरतें आपस मे फुस-फुसाती चली आ रही थीं।

"देखा ? कितना नीचा ब्लाउज़ पहनकर आयी है।" गोमती कह रही थी।

"नीचा पहने, ऊँचा पहने, हमे क्या गोमती!"

"नही, यह कोई अच्छी बात है!" गोमती फिर फुसफुसाई।

"हमे क्या गोमती, हमारी तो दफ्तर की साथिन है, दो मिनट का हँसना-खेलना है, उसकी निजी ज़िन्दगी से हमें क्या मतलब ?"

"बिट्टू का जन्म-दिन है तो बड़ी बनठनकर आयी है। भला बिट्टू इसका क्या लगता है ? शर्म भी नही आती।"

"छोड़ गोमती, वह जाने उसका काम। हमें क्या ?"

"फिर भी यह कोई तरीका है! तुम तो हर बात पर ऐसे ही कह देती हो। मुझे उसके साथ उठना-बैठना अच्छा नही लगता। वह किसी का घर बर्बाद करे और तुम लोग उसके साथ हँस-हँसकर बातें करो। मुझे तो बहुत बुरी लगती है···।"

दस गज आगे चलती हुई अर्चना के कान पीछे आती गोमती पर ही लगे थे। गेट के पास पेड़ के नीचे अर्चना रुक गयी और दोनों की राह देखने लगी।

"मेरे खिलाफ क्या कह रही थी, गोमती ?" अर्चना ने हँसकर पूछा।

"पूछ ले मिसेज़ वर्मा से, मैं क्या कह रही थी।"

"इसने कुछ नहीं कहा," मिसेज़ वर्मा बोली।

"कुछ तो कहा है," अर्चना ने कहा।

"मैंने कहा है कि अर्चना आज बड़ी हँस-हँसकर बातें कर रही है। कभी-कभी तो इसका मूड ऐसा खराब होता है, कि सीधे मुँह बात नहीं करती।"

"मैं बात नहीं करूँगी! मैं तो सभी से बात करती हूँ," अर्चना ने फिर से इठलाकर कहा।

पनवाड़ी की दुकान पर सभी को एक-एक पान अर्चना ने ही लेकर दिया। पान मुँह में रखते हुए सुरजीत बोली :

"देखें तो किसके होंठ ज्यादा लाल होते हैं, जिसके होंठ ज्यादा लाल होंगे, उसका घरवाला उसे ज्यादा चाहता है।"

इस पर मिसेज़ वर्मा झट-से बोली :

"लाल न भी हो, फिर भी मैं जानती हूँ वह मुझे चाहता है।"

पर अर्चना की प्रतिक्रिया बिल्कुल दूसरी थी :

"चाहेगा क्यों नहीं···मैं जो कहूँगी, करेगा।"

सभी हँस दीं। उनकी हँसी का मतलब भी गलत समझते हुए अर्चना झट-से बोली "यह बात नहीं है। मर्द को काबू में रखने का ढंग आना चाहिए। वह तो मेरे इशारों पर नाचता है, जो कहती हूँ करता है।"

"क्या हम जानती नहीं हैं, अर्चना, वह तुम पर मरता है।"

"मरेगा क्यों नहीं, मर्द को काबू में रखने का ढंग आना चाहिए।"

सभी चुप हो गयीं, सभी को अटपटा लगने लगा था। 'उस' की बात करते समय कहीं-न-कहीं तो व्यंग्य की पुट आ ही जाती थी। आखिर पति तो वह किसी दूसरी स्त्री का ही था, अर्चना का तो नहीं था। अपने-अपने घरवाले की बात करते समय उसकी बात करना असंगत-सा, कुछ-कुछ हास्यास्पद-सा लगता था।

"हाय अर्चना, आज तो तेरा उपवास का दिन है। मंगल के दिन तो तेरा उपवास होता है ना?" गोमती ने स्वाँग-सा भरते हुए पूछा।

पर मिसेज़ वर्मा बीच ही में बोली :

"आज के दिन क्यों उपवास करेगी, आज बिट्टू का जन्म-दिन जो है।"

"उसका जन्म-दिन मंगल को पड़ा है, अगर मंगल को नहीं पड़ता तो जरूर उपवास करती।"

सभी जानती है कि अर्चना सभी तीज-त्योहार करती है, गृहस्थिनों से भी ज्यादा निष्ठा के साथ। पूजा भी करती है, मनौतियां भी मनाती है, आये दिन उपवास भी करती है। फिर भी गोमती की नजर मे उसकी सभी मनौतियां और सभी उपवास झूठे है, पाखण्ड है।

"बिट्टू कितने बरस का हुआ है अर्चना?" गोमती ने झट से पूछ लिया।

मिसेज वर्मा को अच्छा नही लगा। इस विषय पर पूछने की जरूरत ही क्या थी?

"बारह का।"

"बारह का? वह तो बहुत बड़ा हो गया। और उसकी बहिन?"

"वह बिट्टू से दो साल बड़ी है।"

"बिट्टू का जन्म-दिन कैसे मनाओगी?"

"मना तो रही हूँ। तुम भी मना रही हो।"

"मेरा मतलब यह नही है। मेरा मतलब है 'उस' के साथ कैसे मनाओगी?"

"मनायेगी, जैसे भी मनायेगी।" सुरजीत ने शरारत-भरी मुस्कान के साथ चुटकी लेते हुए कहा, "आज अर्चना का उपवास थोड़े ही है।"

"किसी रेस्तरां मे जायेंगे, चाय-वाय पियेंगे, और क्या," अर्चना ने बात मोड़ते हुए कहा।

"बिट्टू भी आयेगा?" गोमती ने पूछा।

अर्चना ने सिर हिला दिया। "नही, उसका क्या काम?"

"वाह जी, उसका जन्म-दिन है और वह नही आयेगा।"

"नही, नही, गोमती, बिट्टू तो जानता भी नही मैं कौन हूँ," कहते हुए अर्चना का चेहरा लाल हो गया। जो बातें सामान्यत. इन सभी को साधारण लगती थी, वे भी मुँह पर लाने पर अनोखी जान पड़ने लगी। अर्चना ने अपनी झेंप दूर करने की कोशिश करते हुए कहा: "उसे क्यो पता चले कि मैं कौन हूँ? वह तो बच्चा है, बच्चो पर तो बुरा प्रभाव पड़ता है ना! बड़ा होकर अपने पिता के बारे मे क्या सोचेगा!"

सभी ने सिर हिलाया। गोमती ने भी सिर हिलाया, पर मन-ही-मन

बिफर उठी, 'बड़ी आयी धर्म बघारनेवाली। उस बेचारी का घर बर्बाद कर रही है और हमारे सामने धर्म बघारती है।'

बातों-बातों में अर्चना पनवाड़ी को पैसे देना भूल गयी थी। जब सहेलियाँ वहाँ से चलने लगी तो मिसेज वर्मा ने अपने बैग में से बहुत-सी रेज़गारी निकाल ली। तभी अर्चना को याद आया।

"हाय, पैसे तो मुझे देने है।"

"इसमें क्या है, कोई दे दे।"

पर अर्चना की नज़र मिसेज वर्मा की हथेली पर पड़े सिक्को पर पड़ गयी।

"हाय, ये नये सिक्के तुम्हें कहाँ से मिले? गांधीजी की तसवीरवाले सिक्के है ना? ये तुम मुझे दे दो।"

"ले लो, ले लो।" मिसेज वर्मा ने हथेली सामने फैला दी। "मेरे पास घर पर और भी है। गांधीजी वाला रुपया भी है, ला दूँ?"

"हाँ, ला दो, बिट्टू को सिक्के इकट्ठा करने का बड़ा शौक है। मैं हफ्ते मे पांच-सात सिक्के इधर-उधर से बटोरकर उसे भेज देती हूँ।"

सहसा मीरा बोल उठी :

"अच्छा, अर्चना, यह बता, तू नही चाहती वह तेरा हो जाय?"

मीरा हर बात में सदा अर्चना का पक्ष लिया करती थी, और अर्चना भी इन सबमें उसी को अपनी सच्ची सहेली मानती थी। फिर मीरा यह क्या पूछ बैठी!

"कौन? बिट्टू?" न जाने क्यों, सभी स्त्रियाँ हँस दी।

"बिट्टू नही, बिट्टू का बाप।"

अर्चना के मुँह पर लाली दौड़ गयी। धीरे-से बोली :

"वह तो मेरा है ही।"

"मतलब कि बिल्कुल तेरा हो जाय।"

मिसेज वर्मा को इस वार्तालाप से झेंप होने लगी। सुरजीत को भी। उन्हे लग रहा था कि अर्चना के प्रेम से किसी का कोई मतलब नही है। इस तरह के सवाल पूछने का कोई मतलब नही।

"वह तो बिल्कुल ही मेरा है। प्रेम तो वह मुझसे ही करता है। बिट्टू की माँ तो केवल उसकी पत्नी है। वह तो केवल उसका घर चलाती है।"

गोमती के तेवर चढ गये। पर वह चुप रही। अर्चना से बातें करते

समय कोई नहीं कह सकता था कि उससे व्यंग्य में सवाल पूछा जा रहा है या गम्भीरता से। अर्चना स्वयं नहीं जानती थी कि इन सहेलियों के साथ उसका सम्बन्ध किस प्रकार का है, उस सम्बन्ध में सद्भावना नाम की कोई चीज़ भी है या नहीं।

"अर्चना, क्या तू सोचती है कि तू उससे कभी शादी कर पायेगी?" मीरा ने पूछा।

"क्यों? मैं तो शादी कर चुकी हूँ। मेरी शादी तो उसके साथ, उसी दिन हो गयी थी जब हम दोनों ने प्रेम की शपथ ली थी।"

सभी को फिर से अटपटा लगने लगा। मीरा अर्चना के चेहरे की ओर देखती रह गयी। अर्चना के पीले-पीले गाल कुछ-कुछ ढुलक आये थे, जिससे उसकी आँखें निस्तेज-सी लगती थी। इसी कारण शायद उसके मुँह से प्रेम की बातें बोदी-सी लग रही थीं। लगता था अर्चना प्रेम करने की उम्र कब की पार कर चुकी है। पर फिर भी पुराने चिथड़े की तरह प्रेम उसके साथ चिपका हुआ है। अर्चना ने सभी को अपने प्रेम की कहानी सुना रखी थी, एक बार नहीं, दसियों बार सुना रखी थी। वही घिसा-पिटा किस्सा था। दोनों एक-दूसरे से प्रेम करते थे। फिर घरवालों के दबाव के कारण वह उससे शादी नहीं कर पाया। तब अर्चना ने ही उससे कहा कि दूसरी लड़की से शादी कर ले। उसकी शादी हो गयी और अर्चना सच्चे प्रेम को छाती से लगाये बैठी रही। और अभी तक चिपकाये बैठी है, यहाँ तक कि जब कभी दफ्तर की इन सहेलियों को उसकी कहानी सुनाने लगती है तो उन्हें झेंप होने लगती है, वे मुँह फेर लेती हैं मानो इस प्रेम से अब हल्की-हल्की सड़ाँध आने लगी हो।

पनवाड़ी की दूकान पर से लौटते समय गोमती फिर मिसेज़ वर्मा के साथ चिपक गयी और दोनों पीछे-पीछे आने लगीं।

"बड़ी आयी सच्चा प्रेम करनेवाली," गोमती साँप की तरह फुंफकारकर बोली, "यह चाहती है वह अपनी घरवाली को छोड़ दे, उसे तलाक दे दे।"

"छोड़ गोमती, तू भी क्या ले बैठती है? यह तो कुछ भी नहीं कहती।"

"फिर उसे छोड़ती क्यों नहीं? अलग से किसी के साथ शादी क्यों नहीं करती? किस इन्तज़ार में बैठी है? तू ही बता।"

"हमें क्या गोमती, वह जाने उसका काम। हमारा दफ्तर में इसके साथ थोडा उठना-बैंठना है। हमे क्या पड़ी है।"

"देख लेना, यह उसका घर तोड के रहेगी। कई बार उसकी पत्नी इसके घर ग्राकर रो चुकी है। इसके पाँव पड़ चुकी है कि मेरा घर नही तोड़। पूरी डायन है यह जिसके साथ तुम इतनी घुल-घुलकर बाते करती हो।"

"हम किसी के साथ भी घुल-घुलकर बातें नही करते। पर जहाँ हमारा कोई मतलब नही है, हम क्यों टाँग ग्रडावें।"

ग्रर्चना मीरा ग्रौर सुरजीत के साथ चलती जा रही थी, पर पहले की तरह उसके कान ग्रभी भी पीछे गोमती ग्रौर मिसेज वर्मा की ग्रोर लगे थे। गोमती की घुर-घुर से वह बेचैन हो उठती थी। उसे सारा वक्त यही लगता कि गोमती उसके खिलाफ लोगों के कान भर रही है। कई बार ग्रर्चना इस बात की कोशिश कर चुकी थी कि गोमती उनकी मण्डली में से निकल जाय। कई बार वह इस मण्डली में से स्वयं निकल जाने की कोशिश भी कर चुकी थी। मीरा उसके मन की स्त्री है, कभी मीरा की कमर मे हाथ डालकर वह उसे ग्रलग कैन्टीन मे ले जाती, जब वहाँ इस मण्डली की ग्रौर कोई स्त्री न होती। पर यह भी बहुत दिन चल नही पाया। मीरा सुरजीत के बिना नही रह सकती थी। कई बार ग्रर्चना स्वयं कैन्टीन मे ग्राना बन्द कर देती, ग्रलग-थलग दफ्तर के कमरे मे पडी रहती, पर वहाँ मर्द क्लर्को के बीच उसके लिए बैठना ग्रसह्य हो जाता। कई बार वह गोमती को ग्रपने साथ मिलाने की कोशिश भी कर चुकी थी। गोमती को खाने का शौक था, चप-चप करके उँगलियाँ चाट-चाटकर खाती। ग्रर्चना कभी बेल-चूड़ा खरीदकर ले ग्राती, कभी तली हुई मछली। पर कोई भी तरीका कारगर नही हुग्रा था।

ग्राँगन पार करते हुए ग्रर्चना ग्रन्दर-ही-ग्रन्दर छटपटाने लगी। उसका बस चलता तो गोमती की जबान खींच लेती। मीरा से ग्रर्चना की स्थिति छिपी नहीं रही।

"क्या बात है, ग्रर्चना? क्या सोच रही हो?"

"कुछ नही।"

"कुछ तो है।"

"गोमती मेरे खिलाफ मिसेज वर्मा के कान भर रही है। वह सारा

वक्त मेरे खिलाफ तुम लोगों के कान भरती रहती है।"

"हाय, हमें तो उसने कुछ भी नही कहा," मीरा और सुरजीत दोनों हैरान होकर बोली।

"गोमती मुझसे जलती है," अर्चना कांपती आवाज में बोली, "वह मुझसे जलती है, क्योंकि उसका घरवाला उसकी परवाह नहीं करता। वह भैंसे की तरह मोटा है, और इस पर हुक्म चलाता रहता है और यह उससे डरती है···।"

मीरा और सुरजीत दोनों उसके चेहरे की तरफ देखने लगी। इस तरह का दौरा अकसर अर्चना पर आया करता था और वह किसी-न-किसी के साथ बिगड़ने लगती थी। मीरा नही चाहती थी कि गोमती और अर्चना के बीच तू-तू, मैं-मैं हो, कोई काण्ड उठ खड़ा हो।

"हाय अर्चना, ऐसा नहीं सोचते। इतना तो मजा आया है। हम लोग हँसती-बतियाती रही हैं। कोई तुम्हारे खिलाफ कुछ भी नही कहता।"

और मीरा अर्चना की कमर में हाथ डालकर उसे आगे धकेल ले चली।

"वह मुझसे जलती है, मैं जानती हूँ।" अर्चना ने कहा, पर दफ्तर की सीढ़ियों तक पहुँचते-पहुँचते अर्चना की आंखों में आंसू भर आये, "नहीं जी, तुम लोग अपने को बहुत कुछ समझती हो।"

मीरा ने आगे बढ़कर उसे अपनी बाँहों में ले लिया।

"आज के दिन नहीं रोते अर्चना, आज बिट्टू का जन्म-दिन है।"

गोमती और मिसेज़ वर्मा अभी तक सीढ़ियों के पास पहुँची नहीं थीं, जब अर्चना और मीरा और सुरजीत सीढ़ियाँ चढ़कर अपने-अपने कमरे की ओर चली गयी थी। पान खाने की तफरीह का वक्त खत्म हो चुका था।

गिरीश को देखने पर यह पता नही चलता था कि वह दो स्त्रियों के जीवन का केन्द्र बना होगा, कि एक उसके साथ गृहस्थ के डोरों से और दूसरी प्रेम के डोरों से बँधी होगी, कि दोनों उसके रथ को अपनी पलकों से खींचती चली आ रही होंगी। गिरीश के गाल मोटे हो चले थे और कनपटियों के बाल सफेद थे। हाँ, बाबू-कट मूँछें अभी तक काली थीं। उसकी आँखों के नीचे रेखाएँ आ गयी थी और ठुड्डी के नीचे का मांस कुछ-कुछ

ढीला पड़ने लगा था। वैसा ही साधारण-सा जीव था, जैसे लाखों-लाख अन्य पुरुष सड़कों की खाक छानते फिरते हैं। अर्चना को एक रोज सपना आया था कि गिरीश संयुक्त राज्य अमरीका का प्रेसीडेंट बन गया है और वह उसके गले में फूलों की माला डाल रही है। सपने में उसका रोम-रोम पुलक उठा था और गिरीश का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली और सुन्दर और आकर्षक लगा था। वह वर्षो पहले की बात थी और सपने का वह बिम्ब वैसे का वैसा उसके मस्तिष्क में बना हुआ था, जब कि गिरीश का चेहरा पहले भी साधारण-सा था और अब तो और भी ज्यादा साधारण लगने लगा था।

दफ्तर में से निकलते ही अर्चना ने गाड़ी को नुक्कड़ पर खड़े देख लिया। 'अब देख लें सभी, 'यह' मेरे काबू में है या नहीं,' अर्चना ने मन-ही-मन कहा और गाड़ी की ओर बढ़ने लगी।

मोटर की अगली सीट पर स्टीयरिंग ह्वील के पीछे वह निस्तेज-सा बैठा अर्चना की राह देख रहा था। चेहरे पर कोई विशेष भाव नहीं था, न उत्साह का न आग्रह का, बड़ी उम्र के लोगों की तरह गम्भीर, बुत का बुत बना चुपचाप बैठा था।

मोटर का दरवाज़ा खोल, साड़ी सँभालकर अन्दर बैठती हुई अर्चना ने फिर एक बार मुड़कर देखा—गोमती, मीरा मिसेज वर्मा, कोई भी इस वक्त हो तो अपनी आँखों से देख ले, कैसे वक्त पर उसे लेने पहुँच गया है।

"तुम्हें ज्यादा देर तो नहीं रुकना पड़ा," अर्चना ने उत्सुकता से पूछा। "मुझे थोड़ी देर हो गयी।"

"नहीं," उसने कहा और सीधा सामने की ओर देखता रहा।

शीघ्र ही एक चौराहा आया। लाल बत्ती थी। अर्चना को निराशा हुई। हरी बत्ती मिले तो अर्चना उसे अच्छा शगुन समझती थी, लाल बत्ती का मतलब था कोई अड़चन। जब से शहर के चौराहों पर बत्तियाँ लगी थीं, अर्चना ने हरी बत्ती को अपनी बत्ती मान लिया था।

वे लगभग रोज मिला करते थे और अर्चना के लिए विशेषकर इस मिलन का बड़ा सुखद मोह था। एक जगह पर मोटर खड़ी करके वे सड़कों पर घूमते, दूकानों की खिड़कियों में झाँकते, हँसते-बतियाते, एक-दूसरे के लिए शॉपिंग करते, किसी रेस्तराँ में बैठकर चाय पीते। इस तरह अर्चना

को महसूस होता कि प्रेम का एक और दिन सार्थक हुआ है। फिर वह अपने परिवार के पास लौट जाता, अपने काम-काज में खो जाता, मानो अँधेरे ने खो जाता था, अगले मिलन तक, जब वह शाम को फिर, समय के इस रजत द्वीप में उसे मिलता, और इस तरह वर्षों से अर्चना के प्रेम को अवलम्ब मिलता रहा था। किसी रोज वह नहीं आ पाता तो अर्चना मन ममोसकर रह जाती। और यदि कहीं कोई अड़चन पड़ जाती, एक दिन के बजाय, चार-पाँच दिन तक मुलाकात नहीं हो पाती, तो अर्चना का मन संशय में छटपटाने लगता। वर्षों पहले, जवानी के दिनों में अर्चना को इस बात का डर बना रहा था कि गिरीश कहीं अपनी पत्नी से प्रेम नहीं करने लगे। जब भी गिरीश आवेश में उसे कहता, "तुम तो जानती हो, मुझे अपनी पत्नी से प्रेम नहीं है," तो अर्चना के दिल को अन्दर-ही-अन्दर ढाँढ़स मिलता, उसके व्यवहार में और अधिक कोमलता, और अधिक उदारता आ जाती, और अधिक सहानुभूति, जैसे गिरीश दुखी हो, प्रेम से वंचित हो और उसे प्रेम देना जरूरी हो। बाद में अर्चना को इस बात का भय होने लगा था कि गिरीश उसे छोड़कर किसी अन्य लड़की से प्रेम नहीं करने लगे। उन दिनों रेस्तराँ में बैठे-बैठे कभी गिरीश दायें-बायें देखने लगता तो अर्चना अपना सन्तुलन खो बैठती। पर समय के प्रवाह में बहुत-कुछ घिस-पिट गया था। अब यह प्रेम बहुत-कुछ एक आदत-सी बन गया था। आदत टूटने लगती तो दोनों अटपटा महसूस करते। हफ्ता-दस दिन तक नहीं मिलो तो गिरीश के मन में भी अर्चना के लिए चाह उठने लगती, उसके प्यार के लिए दिल कसमसाने लगता, तब अर्चना के चेहरे पर जैसे लुनाई लौट आती थी और गिरीश को अच्छी लगती थी, पर रोज-रोज मिलने पर अर्चना की चमड़ी में मोटे-मोटे मसान नजर आने लगते थे। और कभी आपस में झगड़ा हो जाता तो गिरीश को अर्चना के हाथ का स्पर्श लिजलिजा-सा लगता, बात करती तो उसके दाँत ज्यादा पीले लगते, चेहरे की त्वचा मसानों से छलनी हुई-सी लगती। और उसे लगता जैसे उसने कभी भी इस लड़की को प्यार नहीं किया हो और जैसे वे दोनों किसी भुलावे में जीते आ रहे हों।

यह रिश्ता सामान्य रूप से तो पटरी पर ही रहता, पर कभी-कभी जब उसमें कोई व्यवधान उठ खड़ा होता—जैसे कोई तीज-त्योहार, या कोई ऐसा काम जिसमें घर की खोह में बैठी गिरीश की पत्नी और अर्चना

के बीच अपने-अपने अधिकार की होड़ लगने लगती, तो वास्तविक स्थिति को छिपानेवाले सभी पर्दे झीने पड़ जाते, और इस रिश्ते का नग्न रूप दोनों की आँखों के सामने झलकने लगता था। तब अर्चना को लगता जैसे वह किसी सफेद मील के पत्थर के पास खड़ी डोल रही है, निपट अकेली, जहाँ से न वह आगे बढ़ सकती है, न पीछे लौट सकती है, जहाँ आगे और पीछे दोनों ओर धुन्ध ही धुन्ध है जिसमें उसका भावी जीवन और अतीत दोनों खोये हैं...।

दोनों अपने चिर-परिचित रेस्तरॉं के सामने जा पहुँचे।

"आज हम ज्यादा देर के लिए यहाँ नहीं बैठ सकेंगे।" गिरीश ने रेस्तराँ का दरवाजा खोलते हुए कहा।

"क्यों, क्या बात है?" कहती हुई अर्चना दरवाजे में से अन्दर चली गयी।

"आज बिट्टू ने जल्दी घर आने को कहा था। आज उसका जन्म-दिन है।"

अर्चना चुप रही।

रेस्तराँ का वह कोना खाली था, जहाँ दोनों अक्सर बैठा करते थे। वे उसी कोने की ओर बढ़ गये।

बैरा आर्डर लेने के लिए खड़ा था। यों वह जानता था कि ये लोग क्या आर्डर करेंगे। एक प्लेट सैंडविच और एक प्लेट चीज-पकौड़ा। कभी-कभी उनके आने पर बेटर, उनसे बिना कुछ पूछे, स्वयं ये चीजें लाकर उनके सामने रख देता। तब ये लोग बड़े खुश होते थे कि बैरा भी उनकी वर्षों की पसन्द को जानता है।

"चिकन सैंडविच और एक प्लेट चीज़-पकौड़ा।" अर्चना बोली, फिर गिरीश की ओर देखकर कहने लगी, "...मैं तो कॉफी-आइसक्रीम लूँगी, तुम क्या लोगे?"

बेटर को हैरानी हुई। आज आर्डर बदला जा रहा था।

"...ठीक है, जो मँगवा लो, मैं केवल चाय पीऊँगा।"

बेटर के चले जाने पर गिरीश कनखियों से कुछ देर तक अर्चना के चेहरे की ओर देखता रहा। चिकन सैंडविच और कॉफी-आइसक्रीम—सात आठ रुपये बिल आयेगा। हफ्ते में एक-आध बार हो तब तो गिरीश को बुरा नहीं लगता था। लेकिन रोज-रोज यहाँ पहुँच जाना और बिना सोचे-

समझे, बिना पूछे आर्डर दे देना उसे अच्छा नहीं लगता। और यह भलीमानुस अपना बटुआ कभी खोलती तक नहीं, बिल आता है तो चुपचाप मेरे सामने सरका देती है। पर गिरीश ने अपने मन को समझाया—वर्षों से ही मैं बिल चुकाता आ रहा हूँ, एक दिन और बिल चुका दिया तो क्या होगा!

अर्चना अपने दफ्तर के बारे में बतियाने लगी थी :

"आज खूब हुआ। पान खाने हम लोग गये तो मीरा बोली, '''देखें तो किसके होंठों पर ज्यादा लाली आती है, जिसके होंठो पर ज्यादा लाली आये उसी को उसका मर्द ज्यादा चाहता है।"

गिरीश ने मुस्कराकर सिर झटक दिया :

"औरतों को बचकानी बातें ही सूझती हैं।"

"इसमें बचकानी बात क्या है। हँसी-खेल है।"

"तुमने क्या कहा ?"

"'''मैंने कहा मेरा मर्द तो मेरे काबू में है।"

गिरीश चुप रहा।

गिरीश की नजर बार-बार सडक पर खुलनेवाली रेस्तराँ की खिड़कियो की ओर जा रही थी।

"आज क्या बात है ?"

"कुछ नही।"

"कुछ तो है, तुम बड़े उखड़े-उखड़े लग रहे हो।"

गिरीश ने तनिक मुस्कराकर कहा, "एक बात है, मामूली-सी, तुम्हें बताऊँगा," फिर रेस्तराँ के अन्दर चारों ओर नज़र घुमाकर बोला, "चलो, उस पीछेवाले मेज पर जा बैठते हैं। यह मेज खिडकी के बहुत नज़दीक है।"

दोनों उठकर हाल के कमरे के पिछले हिस्से मे दीवार के साथ लगे एक मेज़ पर जा बैठे। यहाँ से काँच की खिड़कियों की ओर देखो तो रेस्तराँ मे बैठे लोगों के सिर ही सिर नजर आते थे और यदि बाहर से अन्दर की ओर देखो तो हाल के इस हिस्से में अँधेरा जान पड़ता था।

"बताओ क्या बात है ?" अर्चना ने आग्रह किया।

"फिर बताऊँगा।"

अर्चना ने आग्रह करना छोड़ दिया। वह गिरीश के स्वभाव को

जानती थी। आग्रह करो तो वह बिगडने लगता था।

"तुम दफ्तर मे क्या करते रहे ?" अर्चना ने सहज भाव से पूछा, "क्या वह माल बुक हो गया या नही जिसके बारे में तुम बता रहे थे।"

"हो गया, कल नही हो पाया, आज हुआ है।"

"हो तो गया। तुम यों ही परेशान हो रहे थे।"

"स्टेशन पर माल बुक करवाना था। दो घण्टे तक वहाँ खड़े रहना पड़ा।"

"तभी बहुत थके-थके लग रहे हो।" और अर्चना के तन-बदन में सहानुभूति की लहर दौड़ गयी। उसका मन आया, अपने हाथ से गिरीश का माथा सहलाकर उसकी थकावट दूर कर दे।

"आज मेरे साथ घर पर चलोगे ?" अर्चना ने धीमी आवाज मे कहा।

गिरीश चुप रहा। अचानक ही उसकी एक उड़ती नजर फिर रेस्तराँ की खिड़कियों की ओर गयी।

"सोच रहा हूँ, चलूँ या नही चलूँ।"

उसे द्विविधा मे देखकर अर्चना फौरन ही बोल उठी :

"नही, नही, तुम घर पर ही जाओ। बच्चों के पास जाओ।"

अर्चना ने चुपचाप अपना वेनिटी-बैग खोला और उसमे से कागज में लिपटा एक छोटा-सा पैकेट निकाला और धीरे से हाथ बढाकर गिरीश के सामने मेज पर रख दिया :

"यह क्या है ?"

"देख लो।"

"क्या है ?" गिरीश ने कहा और पैकेट खोलने लगा।

अर्चना स्वयं ही बोल उठी, "सिक्के हैं। बिट्टू के लिए कही से मिल गये। इन पर गाधीजी की तस्वीर है। नये-नये निकले हैं। इन्हे अपनी ओर से दे देना।"

"हाँ दे दूँगा।" और गिरीश ने उसे चुपचाप जेब में डाल लिया। पर डाल लेने के बाद उसकी आँखें कुछ देर के लिए अर्चना के चेहरे पर टिकी रही मानो वह बड़े तटस्थ भाव से अर्चना के चेहरे को देखने लगा हो।

"तुम्हारी प्रोमोशन की बात कहाँ तक पहुँची ?" सहसा अर्चना ने पूछा।

गिरीश ठिठक गया। उसे लगा जैसे अर्चना ने उसके मन की बात पढ़ ली हो। वह जो बार-बार खिड़की की ओर देख रहा था, उसी में मानो अर्चना बात की तह तक जा पहुँची हो।

"आज मुझे पता चला कि दफ्तर के ही किसी आदमी ने मेरे खिलाफ डाइरेक्टर के कान भरे है।"

अर्चना उसके चेहरे की ओर देखने लगी।

"क्या कान भरे हैं ?"

पर अर्चना की आँखें फैल गयीं। वह झट-से गिरीश की समस्या को भाँप गयी।

"किसी ने मेरे खिलाफ कहा है कि मैं अपनी पत्नी को बसा नही पाया हूँ। मैं किसी दूसरी स्त्री के साथ रहता हूँ। इससे फर्म बदनाम होती है।"

"इस कारण वह तुम्हारी प्रोमोशन नही करेंगे ?"

इस पर गिरीश कृत्रिम आवेश मे बोला :

"मेरे निजी जीवन में किसी को दखल देने का कोई मतलब नही है। मैं एक के साथ रहूँ या दस के साथ, किसी को क्या मतलब है ! डाइरेक्टर वहाँ का पारसा आदमी है ! मैं सभी को जानता हूँ···।"

अर्चना एकटक गिरीश के चेहरे की ओर देखती रही। बालू की भीत की तरह गिरीश का साहस भुरभुरा रहा था। अर्चना डरा करती थी कि दूसरी औरत गिरीश को उससे छीन ले जायेगी तो उसका जीवन अधर में लटक जायेगा, पर यहाँ आये रोज कोई-न-कोई नयी चीज़ उसे अर्चना से दूर करती जा रही थी। उत्तरोत्तर अर्चना का स्थान गिरीश के जीवन में गौण होता जा रहा था। उसे लगा जैसे गिरीश आगे बढता जा रहा है, जैसे सभी लोग आगे बढ़ते जा रहे हैं और वह पीछे छूटती जा रही है।

"तुम चिन्ता नही करो। तुम्हें ही असिस्टेंट मैनेजर बनायेंगे। जब बन जाओगे तो मुझे धन्यवाद कहने आओगे, कि अर्चना तुम्हारी बदौलत ही मुझे प्रोमोशन मिली है, तुम मेरे जीवन मे लक्ष्मी बनकर आयी हो," अर्चना ने हँसकर कहा, "तुम्हारी पन्द्रह साल की सर्विस है, तुम्हें नही लेंगे तो किसको लेंगे ?"

"मैं क्या परवाह करता हूँ ! प्रोमोशन दें या नही दें।" गिरीश ने कहा, पर कही अवचेतन में उसका अन्धविश्वास जागा। क्या मालूम अर्चना के ही कारण यह प्रोमोशन मिल जाये। वह मुस्करा दिया। मूँछों के नीचे

हल्की-सी मुस्कराहट फरफरायी ।

"मैं तुम्हारे लिए रोज भगवान् से प्रार्थना करती हूँ । मिलेगी क्यों नही । सच्चे दिल से की गयी प्रार्थना जरूर कबूल होती है ।"

कहते-कहते अर्चना को लगा जैसे गिरीश अभी से, घाट से छूटी नौका की भांति दूर होता जा रहा है ।

"यही कुछ साल रह गये हैं अर्चना, जब मैं कुछ बन सकता हूँ । यह मौका निकल गया तो मैं उम्र-भर छोटी नौकरी में ही घिसटता रहूँगा।"

अर्चना फिर उसके चेहरे की ओर देखने लगी ।

मौका ? कैसा मौका ? यह भी कोई मौका है ? क्या मैंने जिन्दगी के मौके नही खोये ? अर्चना सोच रही थी । मैंने अपने मौके खोकर तुम्हे दिये हैं । तुम अपने मां-बाप की इच्छा के खिलाफ मेरे साथ शादी करना चाहते थे । मैंने तुम्हे उनकी आज्ञा का पालन करने पर बाध्य किया । मैने कहा था, अगर मेरा प्रेम सच्चा है तो तुम सदा मेरे बने रहोगे । आज से सात बरस पहले तुम्हारा व्याह टूट सकता था । तुम्हारी पत्नी गिड़गिडाती हुई मेरे पास आयी थी, तुम तो उसे छोडने के लिए भी तैयार थे, मैंने ही व्याह नही टूटने दिया, यह पाप मेरे प्यार के सिर चढता । मैंने कहा नही, मैं सह लूंगी, इसका घर नही टूटे । मेरी निष्ठा हमारे प्रेम के प्रति आज भी वैसी की वैसी बनी है । तुम ही मुझसे दूर होते गये हो । जिस दिन विट्टू पैदा हुआ था, उसी दिन मैं समझ गयी थी कि अब तुम मेरे नहीं रहे । सच तो यह है कि जब विट्टू पैदा हुआ था तो मैं रात-भर रोती रही थी ।…

तरह-तरह के विचार अर्चना के दिल को मथ रहे थे । यदि आज दफ्तर में गोमती उसकी पीठ पीछे फुसफुसाती नही रहती तो अर्चना के मन में ऐसे विचार नही उठते । लेकिन अब तो उसे लग रहा था जैसे कोई चिनगारी उसके शरीर को छू गयी है ।

"तो चलें ?" गिरीश ने मुस्कराकर पूछा और [illegible] से बिल लाने का इशारा किया ।

"तो मेरे साथ घर नही चलोगे ?"

"नही, देर हो जायेगी । विट्टू ने [illegible] किया था । आज अपने दोस्तों को भी घर पर बुला रखा [illegible]"

"हां, जाओ । उसे [illegible]" पर अर्चना का [illegible]

था कि अर्चना के दिल का उबाल ठण्डा हो तो वे रेस्तराँ में से निकलें।

जब वे बाहर आये तो अँधेरा हो चुका था। सड़कों की बत्तियाँ जग रही थीं और चारों ओर चहल-पहल थी। थोड़ी दूर तक अँधेरे बरामदों में चलने के बाद जिस बीच गिरीश ने दो-एक बार अर्चना का हाथ पकड़कर प्यार से दबा दिया। एक जगह तो मोड़ काटते समय गिरीश ने झुककर अर्चना के बालों को चूम लिया। वे उस जगह जा पहुँचे जहाँ गिरीश अपनी मोटर खड़ी कर गया था।

"तुम जाओ, मैं यहीं से अपने-आप घर चली जाऊँगी," अर्चना ने लड़खड़ाती-सी आवाज़ में कहा।

"बैठो अर्चना, बैठो। यह क्या बचपना है।" गिरीश ने मोटर का दरवाज़ा खोलकर अन्दर अर्चना को धकेलते हुए कहा, "मैं तुम्हें छोड़कर घर जाऊँगा।"

मोटर लिंक रोड की उतराई उतरकर और एक बहुत बड़े राउण्ड-अबाउट का चक्कर काटकर थामसन रोड पर आ गयी थी। यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते अर्चना के आँसू सूख चुके थे और फिर से रह-रहकर दिल में एक भभूका-सा उठने लगा था। 'मुझे फेंककर यह अब अपने बच्चों के पास जायेगा, घर में चहल-पहल होगी। वह डायन भी घर में बन-सँवरकर बैठी होगी, सभी इसकी राह देख रहे होंगे, वहाँ अर्चना के अस्तित्व तक का किसी को बोध नहीं होगा।' बार-बार, रह-रहकर, आग की लपट-सी अर्चना के तन-बदन में दौड़ जाती। अर्चना आज सुबह से ही डाँवाडोल महसूस कर रही थी, उस वक्त से गोमती उसके खिलाफ मिसेज़ वर्मा के कान भरने लगी थी। मोटर आगे बढ़ती जा रही थी, सड़क के किनारे खड़े खम्भों के कुमकुमे पीछे छूटते जा रहे थे। अर्चना का ध्यान तेजी से पीछे छूटते खम्भों की ओर अधिक था, आगे की ओर फैले हुए सड़क के लम्बे प्रसार की ओर कम। ज्यों-ज्यों कार आगे बढ़ती जाती वह अधिकाधिक उत्तेजित, अधिकाधिक व्याकुल महसूस करने लगी थी।

गिरीश सदा अर्चना के घर से थोड़ा हटकर मोटर खड़ी किया करता था। और निकट ही साथ-साथ खड़े दो पेड़ों के बीच वे एक-दूसरे से विदा हुआ करते थे।

कार में से निकले तो अर्चना का रवैया बदल चुका था। वह अधिक सहज और स्वाभाविक ढंग से, चहकती हुई-सी बातें करने लगी थी। दोनों

चाबुक-सी लगी। इसके पास सभी के लिए वक्त है, केवल मेरे लिए वक्त नहीं।

"तुमने पहले कहा होता तो रेस्तरां में नहीं आते, तुम्हारे कमरे में जा बैठते। अब तो मुमकिन नहीं। बहुत देर हो जायेगी। मुझे रास्ते में एक आदमी से मिलना भी है।"

गिरीश ने कहा, पर अर्चना की आंखों से आंसू बहने लगे थे। रोना अर्चना की आदत बनता जा रहा था। बात-बात पर आंसू ढरकाने लगती।

"मेरा तुम पर कोई हक नहीं है?" वह फफककर बोली, "तुम दो घड़ी मेरे साथ नहीं बैठोगे तो मैं सारी शाम कहां मारी-मारी फिरूँगी? मैं अपने कमरे में नहीं जा सकती। कमरा मुझे काटने को दौड़ता है। मैं किताबें नहीं पढ़ सकती, नहीं पढ़ सकती। मुझे मत किताबें पढ़ने के लिए कहा करो।"

"यह क्या बचपना है, अर्चना। तुम्हें स्थिति को समझना चाहिए। तुम तो बच्चों वाली बात करती हो। अब पन्द्रह साल पहले वाली स्थिति नहीं रह गयी है।"

"मैं जानती हूँ तुम यही कहोगे।...मैं जानती हूँ तुम मेरे नहीं हो। मेरे कभी हो भी नहीं सकते। पर क्या मैं तुम्हें देख तक भी नहीं सकती? क्या हम दो घड़ी एक साथ बैठ भी नहीं सकते? तुम बार-बार मुझे कहने लगते हो कि मेरा बचपन अभी तक नहीं गया, मैं स्थिति को नहीं समझती।..."

'अच्छा, अच्छा अर्चना, अब यहां क्या बखेड़ा खड़ा करोगी! रेस्तरां में लोग तुम्हें रोता देखेंगे तो क्या कहेंगे?"

गिरीश मन-ही-मन खीझ उठा। उसके ढुलकते आंसू उसे लिजलिजे से लगे। अपनी बात मनवाने के लिए अर्चना अब अक्सर आंसू बहाने लगती थी। बात-बात पर आंसू ढरकाने लगती।

"नहीं, मैं नहीं रोऊँगी।" अर्चना ने रूमाल से आंखें पोंछते हुए कहा। फिर गिरीश की ओर घूरते हुए बोली, "पन्द्रह साल पहले की स्थिति में कौन जी रहा है? क्या मैं तुम पर निर्भर हूँ? क्या मैं दफ्तर में काम नहीं करती? अपनी मां को हर महीने पैसे नहीं भेजती? दो भाइयों की पढ़ाई का खर्च क्या मैंने बर्दाश्त नहीं किया?..."

गिरीश चुप रहा, सिर हिलाता और मुस्कराता रहा। वह चाहता

था कि अर्चना के दिल का उबाल ठण्डा हो तो वे रेस्तराँ में से निकलें।

जब वे बाहर आये तो अँधेरा हो चुका था। सड़कों की बत्तियाँ जग रही थीं और चारों ओर चहल-पहल थी। थोड़ी दूर तक अँधेरे बरामदों में चलने के बाद जिस बीच गिरीश ने दो-एक बार अर्चना का हाथ पकड़कर प्यार से दबा दिया। एक जगह तो मोड़ काटते समय गिरीश ने झुककर अर्चना के बालों को चूम लिया। वे उस जगह जा पहुँचे जहाँ गिरीश अपनी मोटर खड़ी कर गया था।

"तुम जाओ, मैं यहीं से अपने-आप घर चली जाऊँगी," अर्चना ने लड़खड़ाती-सी आवाज़ में कहा।

"बैठो अर्चना, बैठो। यह क्या बचपना है।" गिरीश ने मोटर का दरवाज़ा खोलकर अन्दर अर्चना को धकेलते हुए कहा, "मैं तुम्हें छोड़कर घर जाऊँगा।"

मोटर लिंक रोड की उतराई उतरकर और एक बहुत बड़े राउण्ड-अबाउट का चक्कर काटकर थामसन रोड पर आ गयी थी। यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते अर्चना के आँसू सूख चुके थे और फिर से रह-रहकर दिल में एक भभूका-सा उठने लगा था। 'मुझे फेंककर यह अब अपने बच्चों के पास जायेगा, घर में चहल-पहल होगी। वह डायन भी घर में बन-सँवरकर बैठी होगी, सभी इसकी राह देख रहे होंगे, वहाँ अर्चना के अस्तित्व तक का किसी को बोध नहीं होगा।' बार-बार, रह-रहकर, आग की लपट-सी अर्चना के तन-बदन में दौड़ जाती। अर्चना आज सुबह से ही डावाँडोल महसूस कर रही थी, उस वक्त से गोमती उसके खिलाफ मिसेज़ वर्मा के कान भरने लगी थी। मोटर आगे बढ़ती जा रही थी, सड़क के किनारे खड़े खम्भों के कुमकुमे पीछे छूटते जा रहे थे। अर्चना का ध्यान तेजी से पीछे छूटते खम्भों की ओर अधिक था, आगे की ओर फैले हुए सड़क के लम्बे प्रसार की ओर कम। ज्यों-ज्यों कार आगे बढ़ती जाती वह अधिकाधिक उत्तेजित, अधिकाधिक व्याकुल महसूस करने लगी थी।

गिरीश सदा अर्चना के घर से थोड़ा हटकर मोटर खड़ी किया करता था। और निकट ही साथ-साथ खड़े दो पेड़ों के बीच वे एक-दूसरे से विदा हुआ करते थे।

कार में से निकले तो अर्चना का रवैया बदल चुका था। वह अधिक सहज और स्वाभाविक ढंग से, चहकती हुई-सी बातें करने लगी थी। दोनों

टहलते हुए पेड़ के नीचे पहुँचे तो अर्चना ने गिरीश के दोनों हाथ अपने हाथों में ले लिये।

"तुम्हें ही असिस्टेंट मैनेजर बनायेंगे। बहुत सोचा नहीं करते। और तुम्हारे खिलाफ डाइरेक्टर के कोई आदमी कान नहीं भर सकता। कहने दो जो कुछ कहता है। और हमारा क्या है, हम बाहर एक-दूसरे से नहीं मिला करेंगे। ऐसी भी क्या बात है ?..."

गिरीश मुस्कराया। वह मन-ही-मन ज्यादा हल्का महसूस करने लगा। फिर सही तरह चहकते हुए अर्चना बोली :

"चलो, ऊपर नहीं चलोगे ? चलो, मैं अपने हाथ से गरम-गरम कॉफी का प्याला बनाकर पिलाऊँगी। रेस्तराँ की कॉफी कितनी बकबकी-सी थी। थी न ?"

गिरीश को द्विविधा मे देखकर अर्चना हँसते हुए उसे अपने साथ खींच ले चली।

"पांच मिनट मे कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं है। आज बिट्टू का जन्मदिन है तो हम लोग नहीं मनायें ? आओ, आओ, वाह जी, बडे आये। तुम्हें तो रोज ही काम रहता है। तुम्हे बढ़िया कॉफी बनाकर पिलाऊँगी, चलो, चलो।"

सीढ़ियाँ चढते हुए गिरीश के मन मे फिर दुविधा उठने लगी, पाँच मिनट मे कहाँ लौटना होगा। यह ज़िद्द पकड़ लेती है तो ख्वाहमख्वाह परेशान करती है। मन पर बोझ हो तो कोई क्या इसके साथ दुलार करे ? मैं अपनी नौकरी की सोचूँ या इसे चूमता फिरूँ और प्रेम के आश्वासन देता फिरूँ ? दो-मंजिला सीढ़ियाँ चढ़कर आओ तो साँस धौंकनी की तरह चढ़ने लगता है। इससे लाभ ?

एक मंज़िल की सीढ़ियाँ चढ़कर गिरीश रुक गया।

"क्या है ? रुक क्यो गये ?"

"मैं सोचता हूँ, देर हो जायेगी।"

अर्चना की आँखें फिर से जैसे जलने लगी—ईर्ष्या से, द्वेष से या प्रेम से !

"आओ, आओ, बहुत नहीं सोचा करते।"

गिरीश को कमरे मे बनाये रखने के लिए कामुकता की चाबुक लगाने की जरूरत रहती थी और इसमे अर्चना कुछ समय से प्रवीण हो पाने की

शीशे के सामने खड़ी अर्चना उससे पूछ रही थी :

"मैं मोटी तो नहीं हुई हूँ ? मेरे दफ्तर की सभी औरतें कहती हैं कि मैं मोटी हो रही हूँ।"

बिट्टू की पार्टी का वक्त निकलता जा रहा था। अभी भी बहुत कुछ देर हो गयी थी। दो-एक बार गिरीश को उसका ध्यान आया फिर उसने खयाल छोड़ दिया—मारो गोली, अब जाऊँ भी तो वक्त पर नहीं पहुँच सकता। और वह आश्वस्त होकर कुर्सी पर बैठ गया और नकटाई खोल दी।

घंटे-भर बाद जब गिरीश सीढ़ियाँ उतर रहा था तो ऊपर, अपने कमरे के अधखुले दरवाजे के पीछे खड़ी अर्चना गिरीश की चौड़ी पीठ और मोटी गर्दन की ओर देखती जा रही थी। गिरीश बोझिल और भोंडा लग रहा था। सीढ़ियों पर से उतरते हुए उसका दायाँ पैर कुछ ज्यादा दायीं ओर और बायाँ पैर जरूरत से ज्यादा बायीं ओर पड़ रहा था। उसे देखते-ही-देखते अर्चना के प्रेम में जैसे फिर से विष घुलने लगा था। इस आदमी को अपने पास रोक रखने से जो गर्व की भावना उठी थी वह लगभग खत्म हो चुकी थी। उसे लगा जैसे सारा वक्त वह प्रेम के भ्रम में वेश्यावृत्ति करती रही है।

गिरीश के आँखों से ओझल हो जाने पर वह कमरे में लौट आयी और फफक-फफककर रोती हुई अपने पलंग पर जा लेटी। उसे लगा जैसे उससे किसी दिन कोई अपराध हो जायेगा, वह कुछ कर बैठेगी, या अपनी जान पर खेल जायेगी।

गृहलक्ष्मी घर के एक कमरे में से दूसरे कमरे में यों चक्कर काट रही थी जैसे अपने घेरे में बँधा कोई जन्तु चक्कर काटता है। सड़क की ओर से आनेवाली छोटी-से-छोटी आहट पर उसके कान लगे थे। सोनेवाले कमरे में दीवार के साथ लगी आलमारी में से उसने गिरीश के लिए रात के कपड़े निकाले और पलंग के पायताने बिछाकर रख दिये। वह उसकी रुचियों को जानती थी। जिन डोरों के साथ वह इस घर से बँधी थी उनमें गिरीश की रुचियों के डोरे भी थे। घर में गिरीश को सफाई पसन्द थी। कहीं पर कागज का टुकड़ा भी पड़ा मिलता तो उसका पारा तेज होने लगता था। रात के कपड़े निकालने के बाद गृहलक्ष्मी बैठक में से सुबह का अखबार लाने गयी। गिरीश रात को सोने से पहले अखबार देखा

करता था। पलंग के सिरहाने रखी तिपाई पर उसने पानी की सुराही और गिलास भी रख दिये, और नीचे छोटी चिलमची भी रख दी। गिरीश सुबह चाय का कप बिस्तर में ही पीना पसन्द करता था। सोनेवाले कमरे में से निकलकर वह रसोईघर में लौट आयी। रसोईघर में रोशनी कम थी, दीवारें एक-दूसरी के बहुत निकट, एक-दूसरी को घूरती-सी जान पडती थीं। बरसों बीत चुके थे, फिर भी, ज्यों ही साये घिरने लगते, गृहलक्ष्मी के कान सडक पर लग जाते थे। जब वह देर तक नहीं लौटता तो शाम का अँधेरा अपना भयानक जबड़ा खोल देता और उसे सहन कर पाना असम्भव होता था। यों तो दिन-भर कमरों में घूमते, घर का काम-काज देखते कोई चीज सारा वक्त उसका कलेजा चाटती रहती थी, लेकिन शाम को अँधेरे की खाई पाटना उसके बस का नहीं रहता था। भावना के लम्बे पड़ाव लाँघकर गृहलक्ष्मी यहाँ तक पहुँची थी—छटपटाहट, विद्रोह, फिर त्रास और अब जडता—पति-पत्नी सम्बन्धों के अनेक चरण गृहलक्ष्मी लाँघकर आयी थी। कभी-कभी तो लगता जैसे जान-बूझकर उसने यह रोग पाल रखा हो, ताकि वह अपने को बलि का बकरा मान सके, जितना अधिक वह अन्दर-ही-अन्दर घुलती रहती थी, उतना ही अधिक इसमें उसे एक तरह का रस मिलता था।

दोनों बच्चे देर तक पिता की राह देखने के बाद छज्जे पर से हट आये थे। बिट्टू बैठनेवाले कमरे में एक कुर्सी पर उकडूँ बैठा था, जब कि मालती प्रेत की तरह एक कमरे में डोल रही थी। बिट्टू को तो घर में किसी की परवाह नहीं थी, लेकिन उसकी बड़ी बहन मूक दीवारों के पीछे माँ और पिता को एक-दूसरे के साथ झगड़ते सुन चुकी थी और उसके मन में भय समा गया था। माँ-बाप जब रात को कभी झगडते तो घर का वातावरण बोझिल पड़ जाता था, अँधेरा जैसे घर के अन्दर घुस आता था। माँ को काम करते देख मालती ने हाथ में मैला कपड़ा उठा लिया और बैठक की झाड-पोंछ करने लगी, मानो मैला कपडा हाथ में लेकर कुर्सियाँ पोंछ देने से घर में फैली अवसाद की परत पुँछ जायेगी।

बाहर गेट खुलने की आवाज आयी।

"पापा आ गये!" बिट्टू ने झट से कहा और उठकर छज्जे की ओर चला गया। मालती मैला कपड़ा कोने में फेंककर सीधी माँ के पास जा पहुँची।

"माँ, पापा आ गये हैं।" वह बोली, फिर तनिक ठिठककर कहने लगी, "पापा अगर गुस्सा करें तो तुम कुछ भी नहीं कहना। तुम बोलती हो तो उन्हें और गुस्सा आ जाता है।"

गृहलक्ष्मी चुप रही।

गिरीश घर लौटता तो बच्चे सबसे पहले उसके चेहरे का भाव देखते। यदि बाप मुँह लटकाये लौटता तो वे अपने-आप एक ओर को हट जाते थे, यदि मुस्कराकर मिलता तो वे चहकने लगते।

दोनों बच्चे सीढ़ियों के पास मिले।

"आज मुझे देर हो गयी," उसने सीढ़ियाँ चढ़कर सहज भाव से कहा और मालती का गाल थपथपा दिया।

पिता अच्छे मूड में थे। पिता के पीछे-पीछे दोनों बच्चे बैठक के अन्दर चले आये।

"आज मेरा जन्म-दिन था, आज नहीं आये, हम देर तक आपका इन्तजार करते रहे।" बिट्टू ने शिकायत के लहजे में कहा, फिर चहककर बोला, "माँ ने हमें पूड़े बनाकर खिलाये।"

"मुझे काम था," अपना ब्रीफ केस तिपाई पर रखते हुए गिरीश ने कहा और सोफा-कुर्सी पर बैठ गया।

गिरीश जानता था कि बच्चों की माँ उससे मिलने बाहर नहीं आयेगी। जरूरत होने पर, अन्दर से ही बच्चों के माध्यम से जो पूछना होगा पूछ लेगी।

तभी बिट्टू चलता हुआ पिता की कुर्सी के पास पहुँचा और पिता के चेहरे की ओर अच्छी तरह से झाँकते रहने के बाद कुर्सी की बाँह पकड़कर खड़ा हो गया।

"अब क्लास में रामजी मेरे साथ नहीं बैठता। मैडम ने उसे पिछले डेस्क पर भेज दिया है।" वह बोला।

गिरीश ने मुड़कर बेटे की ओर देखा और मुस्करा दिया।

"वह बड़ा डरपोक है," बिट्टू का उत्साह बढ़ने लगा था, "मेरी चुगली लगाता था। मैडम ने उसे पीछे भेज दिया।"

इस पर मालती भी आगे बढ़ आयी और चहकते हुए बोली, "पापा, हम लोग पूड़े खा रहे थे। जब इसका दोस्त रमेश आया, तो इसने उसे अन्दर नहीं आने दिया।"

"क्यों ? अन्दर क्यों नही आने दिया ?" पिता ने बिट्टू से पूछा।

"क्योंकि वह इसके लिए प्रेजेण्ट नही लाया था," मालती हँसकर बोली,"इसने उसे दरवाजे पर से ही बाहर धकेल दिया। कहने लगा, जाओ पहले प्रेजेण्ट लेकर आओ।"

"सच, बिट्टू ?"

बिट्टू अपनी सफाई देने लगा :

"उसके जन्म-दिन पर मैंने उसे कोका-कोला पिलायी थी। उसने कहा था तेरे जन्म-दिन पर प्रेजेण्ट लाऊँगा, फिर क्यों नही लाया ?"

तभी किचन की ओर से आवाज आयी—

"आ मालती, चाय ले जा।"

वक्त-बेवक्त जब भी गिरीश घर लौटता, वह चाय का प्याला पिया करता था।

"आयी माँ," कहकर मालती रसोईघर की ओर भाग गयी। माँ के हाथ से प्याली लेते हुए मालती बोली :

"आज पापा बड़े खुश हैं। हँस रहे हैं। तुम भी आओ ना, माँ!"

"जा, चाय दे आ।" माँ ने इतना-भर कहा, "खाली प्याला दे जाना। वहीं पर नही पडा रहे रात-भर।" और गृहलक्ष्मी उसके हाथ में चाय की छोटी-सी ट्रे देते हुए, रसोईघर मे से निकलकर सोनेवाले कमरे की ओर चढ गयी।

मालती चाय लेकर आयी तो गिरीश अपने जेब में से सफेद कागज में लिपटी कोई छोटी-सी चीज बिट्टू की ओर बढा रहा था :

"यह लो, तुम्हारे लिए प्रेजेण्ट है।"

"क्या है पापा ?" बिट्टू ने उछलकर हाथ बढा दिया।

सिक्के थे। गाँधीजी की आकृतिवाले तीन चमकते सिक्के थे।

"ये कहाँ से मिले, पापा ? मुझे तो कही से नही मिले।" बेटे ने उत्सुकता से पूछा।

"मिल गये, जहाँ से मिले। तुम ले लो।"

दोनों बच्चे सिक्कों को उलट-पलटकर देखते रहे। फिर मालती ने तीनो सिक्के हाथ मे लिये और लपककर माँ के पास जा पहुँची।

"देखो माँ, पापा सिक्के लाये हैं। नये सिक्के निकले हैं, इन पर गाधी जी की तसवीर है।"

"होंगे," माँ ने आलमारी के पास खड़े-खड़े कहा।

"आओ ना माँ, तुम वहाँ खड़ी-खड़ी कैसे देख सकती हो?" मालती ने आग्रह किया।

माँ दहलीज पर आ गयी, और सिक्के हाथ में लेकर उन्हें सरसरी नजर से देखकर बोली :

"अच्छे हैं। बड़े सुन्दर हैं। इन्हें सँभालकर रखना।" और उन्हें लौटा दिया।

बरसों के दाम्पत्य जीवन के बाद भी गृहलक्ष्मी काम-काज में लगी रहे तो उसका जीवन पटरी पर रहता था, पर गिरीश के रहते बैठक मे आ बैठे तो अटपटा महसूस करने लगती थी।

बिट्टू पिता से कह रहा था।

"मेरा कद माँ से लम्बा हो गया है पापा। सच!"

गिरीश चुप रहा।

'आज स्कूल में से रिपोर्ट मिली है। पूरे ६० इंच हो गया है। पिछले एक साल मे मेरा कद पूरे चार इंच बढ़ गया है।"

गिरीश ने बेटे को सिर से पैर तक देखा। पहली बार बेटे के कद की ओर ध्यान से देखते हुए गिरीश को बोध हुआ जैसे समय ने सचमुच करवट ले ली है, जैसे वह अतीत को पीछे छोड़कर किसी नये, अनूठे वर्तमान में प्रवेश कर गया है।

बिट्टू सचमुच लम्बा हो गया था। उसके होंठों के ऊपर हल्के-हल्के रोयें भी आ गये थे और दाँतों की लड़ी पहले से कहीं ज्यादा झिलमिलाने लगी थी। बच्चे के कद की ओर देखते हुए गिरीश को गर्व का भास हुआ।

मालती लौट आयी थी और बैठक की दहलीज पर डोल रही थी। माँ और पापा के बीच चुप्पी आज बढ़ती जायेगी या एक-दूसरे से बोलेंगे? अगर पापा का मूड अच्छा होता तो मालती माँ को खींच-खींचकर बैठक मे ले आया करती थी।

तभी गृहलक्ष्मी बाहर आ गयी। बुनाई का सामान [illegible] लिये वह चुपचाप कोनेवाले सोफे पर [illegible]। मालती को [illegible] गया

अँगीठी से लगी दीवार पर जगह-जगह बिट्टू के कद की पैमाइश के निशान थे, जब बिट्टू सात साल का था, तभी से निशान लगाये जा रहे थे। कभी लाल पेंसिल से छोटी-सी लकीर खीच दी जाती रही थी, कभी काली पेंसिल से। यों तो सारा घर ही तरह-तरह के निशानों से भरा पड़ा था, परिवार के अतीत से जुड़े हुए तरह-तरह के निशान। खिड़कियों और दरवाज़ों पर मालती के हाथ की खिंची ऊबड़-खाबड़ लकीरें और नाम थे। सोनेवाले कमरे की छत में वह खूंटा अभी तक लगा था जब शादी के कुछ ही साल बाद गृहलक्ष्मी गर्दन में पल्ला बाँधकर उससे झूल गयी थी। सोनेवाले कमरे की ही दीवार के साथ वह हार्मोनियम भी अभी तक रखा था जिस पर गृहलक्ष्मी किसी समय संगीत सीखने लगी थी, लेकिन जाने कब उस पर से उसका मन उचट गया था।

बिट्टू दीवार के साथ लगकर चहक रहा था।

"देखा!" वह चिल्लाया।

"इससे कुछ पता नहीं चलता जी।" मालती बोली।

"अच्छा, तुम्हें अभी दिखाता हूँ।" बिट्टू ने कहा और सीधा माँ के पास आ गया।

"उठो माँ, आओ, मैं इन्हें दिखाना चाहता हूँ कि मेरा कद तुमसे बड़ा हो गया है।"

"ठहर, ठहर, देख, सिलाई खिंच जायेगी बिट्टू!" माँ ने कहा।

पर बिट्टू माँ को खींचता रहा। उसके आग्रह को देखते हुए माँ उठ खड़ी हुई और साड़ी का पल्लू ठीक करती हुई बैठक के बीचोबीच आ गयी, "क्या है? बोल, क्या कहता है?"

"देख लो, देख लो," कहता हुआ बिट्टू लपककर माँ के कन्धे के साथ कन्धा लगाकर खड़ा हो गया और गर्दन ऊँची करके सामने की ओर देखने लगा।

"एड़ियाँ मत उठा बिट्टू, मैंने देख लिया है।" मालती बोली।

माँ को उठता देखकर मालती चहकने लगी थी।

"कौन एड़ियाँ उठा रहा है? मैं तो सीधा खड़ा हूँ।"

गृहलक्ष्मी बिट्टू के साथ खड़ी अजीब-सा महसूस कर रही थी पर उसे बुरा नहीं लग रहा था। माँ के सिर के बाल कहीं-कहीं से सफ़ेद हो चले थे और चेहरा थका-थका-सा था। पर माँ धीरे-धीरे मुस्कराने लगी थी।

"होंगे," माँ ने आलमारी के पास खड़े-खड़े कहा।

"आओ ना माँ, तुम वहाँ खड़ी-खड़ी कैसे देख सकती हो?" मालती ने आग्रह किया।

माँ दहलीज़ पर आ गयी, और सिक्के हाथ में लेकर उन्हें सरसरी नजर से देखकर बोली:

"अच्छे हैं। बड़े सुन्दर हैं। इन्हें सँभालकर रखना।" और उन्हें लौटा दिया।

बरसों के दाम्पत्य जीवन के बाद भी गृहलक्ष्मी काम-काज में लगी रहे तो उसका जीवन पटरी पर रहता था, पर गिरीश के रहते बैठक में आ बैठे तो अटपटा महसूस करने लगती थी।

बिट्टू पिता से कह रहा था।

"मेरा कद माँ से लम्बा हो गया है पापा। सच!"

गिरीश चुप रहा।

'आज स्कूल में से रिपोर्ट मिली है। पूरे ६० इंच हो गया है। पिछले एक साल में मेरा कद पूरे चार इंच बढ़ गया है।"

गिरीश ने बेटे को सिर से पैर तक देखा। पहली बार बेटे के कद की ओर ध्यान से देखते हुए गिरीश को बोध हुआ जैसे समय ने सचमुच करवट ले ली है, जैसे वह अतीत को पीछे छोड़कर किसी नये, अनूठे वर्तमान में प्रवेश कर गया है।

बिट्टू सचमुच लम्बा हो गया था। उनके होंठों के ऊपर हल्के-हल्के रोयें भी आ गये थे और दाँतों की लड़ी पहले से कहीं ज्यादा झिलमिलाने लगी थी। बच्चे के कद की ओर देखते हुए गिरीश को गर्व का भास हुआ।

मालती लौट आयी थी और बैठक की दहलीज़ पर डोल रही थी। माँ और पापा के बीच चुप्पी आज बढ़ती जायेगी या एक-दूसरे से बोलेंगे? अगर पापा का मूड अच्छा होता तो मालती माँ को खींच-खींचकर बैठक में ले आया करती थी।

तभी गृहलक्ष्मी बाहर आ गयी। बुनाई का सामान हाथ में लिये वह चुपचाप कोनेवाले सोफे पर जा बैठी। मालती को जैसे सहारा मिल गया हो। वह माँ के पास बढ़ आयी और उसकी कुर्सी से लगकर खड़ी हो गयी।

बिट्टू भागकर अँगीठी के पास, दीवार से लगकर खड़ा हो गया।

अँगीठी से लगी दीवार पर जगह-जगह बिट्टू के कद की पैमाइश के निशान थे, जब बिट्टू सात साल का था, तभी से निशान लगाये जा रहे थे। कभी लाल पेंसिल से छोटी-सी लकीर खीच दी जाती रही थी, कभी काली पेंसिल से। यों तो सारा घर ही तरह-तरह के निशानों से भरा पड़ा था, परिवार के अतीत से जुड़े हुए तरह-तरह के निशान। खिड़कियों और दरवाजों पर मालती के हाथ की खिची ऊबड़-खाबड़ लकीरें और नाम थे। सोनेवाले कमरे की छत मे वह खूँटा अभी तक लगा था जब शादी के कुछ ही साल बाद गृहलक्ष्मी गर्दन में पल्ला बाँधकर उससे झूल गयी थी। सोनेवाले कमरे की ही दीवार के साथ वह हार्मोनियम भी अभी तक रखा था जिस पर गृहलक्ष्मी किसी समय संगीत सीखने लगी थी, लेकिन जाने कब उस पर से उसका मन उचट गया था।

बिट्टू दीवार के साथ लगकर चहक रहा था।

"देखा!" वह चिल्लाया।

"इससे कुछ पता नही चलता जी।" मालती बोली।

"अच्छा, तुम्हे अभी दिखाता हूँ।" बिट्टू ने कहा और सीधा माँ के पास आ गया।

"उठो माँ, आओ, मै इन्हें दिखाना चाहता हूँ कि मेरा कद तुमसे बड़ा हो गया है।"

"ठहर, ठहर, देख, सिलाई खिच जायेगी बिट्टू!" माँ ने कहा।

पर बिट्टू माँ को खीचता रहा। उसके आग्रह को देखते हुए माँ उठ खड़ी हुई और साड़ी का पल्लू ठीक करती हुई बैठक के बीचोबीच आ गयी, "क्या है? बोल, क्या कहता है?"

"देख लो, देख लो," कहता हुआ बिट्टू लपककर माँ के कन्धे के साथ कन्धा लगाकर खड़ा हो गया और गर्दन ऊँची करके सामने की ओर देखने लगा।

"एड़ियाँ मत उठा बिट्टू, मैंने देख लिया है।" मालती बोली।

माँ को उठता देखकर मालती चहकने लगी थी।

"कौन एड़ियाँ उठा रहा है? मैं तो सीधा खड़ा हूँ।"

गृहलक्ष्मी बिट्टू के साथ खड़ी अजीब-सा महसूस कर रही थी पर उसे बुरा नही लग रहा था। माँ के सिर के बाल कहीं-कहीं से सफेद हो चले थे और चेहरा थका-थका-सा था। पर माँ धीरे-धीरे मुस्कराने लगी थी।

"होंगे," माँ ने आलमारी के पास खड़े-खड़े कहा।

"आओ ना माँ, तुम वहाँ खड़ी-खड़ी कैसे देख सकती हो?" मालती ने आग्रह किया।

माँ दहलीज पर आ गयी, और सिक्के हाथ में लेकर उन्हें सरसरी नज़र से देखकर बोली:

"अच्छे हैं। बड़े सुन्दर हैं। इन्हें सँभालकर रखना।" और उन्हें लौटा दिया।

बरसों के दाम्पत्य जीवन के बाद भी गृहलक्ष्मी काम-काज में लगी रहे तो उसका जीवन पटरी पर रहता था, पर गिरीश के रहते बैठक में आ बैठे तो अटपटा महसूस करने लगती थी।

बिट्टू पिता से कह रहा था।

"मेरा कद माँ से लम्बा हो गया है पापा। सच!"

गिरीश चुप रहा।

'आज स्कूल में से रिपोर्ट मिली है। पूरे ६० इंच हो गया है। पिछले एक साल में मेरा कद पूरे चार इंच बढ़ गया है।"

गिरीश ने बेटे को सिर से पैर तक देखा। पहली बार बेटे के कद की ओर ध्यान से देखते हुए गिरीश को बोध हुआ जैसे समय ने सचमुच करवट ले ली है, जैसे वह अतीत को पीछे छोड़कर किसी नये, अनूठे वर्तमान में प्रवेश कर गया है।

बिट्टू सचमुच लम्बा हो गया था। उसके होंठों के ऊपर हल्के-हल्के रोयें भी आ गये थे और दाँतों की लड़ी पहले से कहीं ज्यादा झिलमिलाने लगी थी। बच्चे के कद की ओर देखते हुए गिरीश को गर्व का भास हुआ।

मालती लौट आयी थी और बैठक की दहलीज पर डोल रही थी। माँ और पापा के बीच चुप्पी आज बढ़ती जायेगी या एक-दूसरे से बोलेंगे? अगर पापा का मूड अच्छा होता तो मालती माँ को खींच-खींचकर बैठक में ले आया करती थी।

तभी गृहलक्ष्मी बाहर आ गयी। बुनाई का सामान हाथ में लिये वह चुपचाप कोनेवाले सोफे पर जा बैठी। मालती को जैसे सहारा मिल गया हो। वह माँ के पास बढ़ आयी और उसकी कुर्सी से लगकर खड़ी हो गयी।

बिट्टू भागकर अँगीठी के पास, दीवार से लगकर खड़ा हो गया।

अंगीठी से लगी दीवार पर जगह-जगह बिट्टू के कद की पैमाइश के निशान थे, जब बिट्टू सात साल का था, तभी से निशान लगाये जा रहे थे। कभी लाल पेंसिल से छोटी-सी लकीर खींच दी जाती रही थी, कभी काली पेंसिल से। यों तो सारा घर ही तरह-तरह के निशानों से भरा पड़ा था, परिवार के अतीत से जुड़े हुए तरह-तरह के निशान। खिड़कियों और दरवाजों पर मालती के हाथ की खिंची ऊबड़-खाबड़ लकीरें और नाम थे। सोनेवाले कमरे की छत में वह खूंटा अभी तक लगा था जब शादी के कुछ ही साल बाद गृहलक्ष्मी गर्दन में पल्ला बाँधकर उससे झूल गयी थी। सोनेवाले कमरे की ही दीवार के साथ वह हार्मोनियम भी अभी तक रखा था जिस पर गृहलक्ष्मी किसी समय संगीत सीखने लगी थी, लेकिन जाने कब उस पर से उसका मन उचट गया था।

बिट्टू दीवार के साथ लगकर चहक रहा था।

"देखा!" वह चिल्लाया।

"इससे कुछ पता नहीं चलता जी।" मालती बोली।

"अच्छा, तुम्हें अभी दिखाता हूँ।" बिट्टू ने कहा और सीधा माँ के पास आ गया।

"उठो माँ, आओ, मैं इन्हें दिखाना चाहता हूँ कि मेरा कद तुमसे बड़ा हो गया है।"

"ठहर, ठहर, देख, सिलाई खिंच जायेगी बिट्टू!" माँ ने कहा।

पर बिट्टू माँ को खींचता रहा। उसके आग्रह को देखते हुए माँ उठ खड़ी हुई और साड़ी का पल्लू ठीक करती हुई बैठक के बीचोबीच आ गयी, "क्या है? बोल, क्या कहता है?"

"देख लो, देख लो," कहता हुआ बिट्टू लपककर माँ के कन्धे के साथ कन्धा लगाकर खड़ा हो गया और गर्दन ऊँची करके सामने की ओर देखने लगा।

"एड़ियाँ मत उठा बिट्टू, मैंने देख लिया है।" मालती बोली।

माँ को उठता देखकर मालती चहकने लगी थी।

"कौन एड़ियाँ उठा रहा है? मैं तो सीधा खड़ा हूँ।"

गृहलक्ष्मी बिट्टू के साथ खड़ी अजीब-सा महसूस कर रही थी पर उसे बुरा नहीं लग रहा था। माँ के सिर के बाल कहीं-कहीं से सफेद हो चले थे और चेहरा थका-थका-सा था। पर माँ धीरे-धीरे मुस्कराने लगी थी।

मालती का साहस और भी बढ गया था।

"देखा ? देखो पापा, देखो ना। माँ से लम्बा हो गया हूँ या नही ?"

उसने सिर्फ गर्दन सीधी कर ली और हँसता हुआ सामने की ओर देखने लगा।

गिरीश ने उड़ती नजर से माँ के सिर के साथ जुड़े हुए बिट्टू के सिर की ओर देखा। वह मन-ही-मन गृहलक्ष्मी की तुलना अर्चना से करने लगा। अर्चना ज्यादा बन-सँवरकर रहती थी, उसका चेहरा कसा-कसा था।...

"नही, अभी थोडा फर्क है।" वह अन्यमनस्क-सी आवाज में बोला।

"कहाँ फर्क है, पापा ? आप ध्यान से देखें।" और बिट्टू ने माँ को कन्धों से पकड़कर एक ओर को घुमा दिया और उसकी पीठ के साथ पीठ लगाकर खड़ा हो गया।

"अब देखो, अब देखो पापा।"

मालती खड़ी हँस रही थी। बच्चो का उत्साह उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा था।

बेटे की पीठ के साथ पीठ लगाने पर गृहलक्ष्मी को अच्छा-सा लगा, स्निग्धता का भास हुआ। उसे क्षण-भर के लिए किसी अपार सुख का अनुभव हुआ। उसे लगा जैसे उसे बाँधनेवाले डोरों के साथ कुछ एक कोमल रेशमी डोरे भी हैं जिनकी जकड़ मे उसे सुख का भास होता था।

"हाँ, हाँ, तूने सिर निकाल लिया है, लम्बा हो रहा है," माँ बोली, "अब छोड़।"

पर माँ के दिल में बिट्टू और मालती के प्रति स्नेह के सोते फूटने लगे थे। कभी-कभी ऐसा हो जाता था जब गृहलक्ष्मी सब-कुछ भूलकर, बेसुध-सी बच्चो के साथ खेलते रहना चाहती थी।

बच्चे अपने खेल मे मस्त थे।

गिरीश अभी भी मन-ही-मन गृहलक्ष्मी की तुलना अर्चना से किये जा रहा था। अर्चना के चेहरे पर लुनाई थी, तरह-तरह के भाव उसके चेहरे पर थिरकते रहते थे जबकि इस औरत के चेहरे पर जड़ता उतर आयी थी, एक-सा भाव सदा फैला रहता था, और इसकी देह जैसे काठ की बनी हो, न लोच, न लचक।...

तभी मालती माँ को बाँह से खींचकर कमरे मे उस ओर ले गयी जहाँ सोफे पर गिरीश बैठा था।

"आओ माँ, तुम पापा के साथ खड़ी हो जाओ। देखें तुम पापा से कितनी छोटी हो।"

"लड़की तो पागल हो गयी है।" माँ बोली, "चल हट, मुझे काम है।"

पर अब बेटा-बेटी दोनों माँ को बाँहों से पकड़कर खड़े थे। दोनों ने माँ को पिता के ऐन सामने लाकर खड़ा कर दिया और दोनों हँसे जा रहे थे।

मालती क्यों ऐसा कर रही थी? वह मन-ही-मन जानती थी कि ऐसे अवसर घर मे बहुत कम आते हैं—सौभाग्य से छिटके हुए सुन्दर क्षण। ऐसे क्षणों को वह मानो पकड लेना चाहती थी और घर में बनाये रखना चाहती थी। हँसी का, सुख का नन्हा-सा काल-खण्ड जिसे वह घर मे स्थिर कर लेना चाहती थी।

बच्चे बराबर हँसे जा रहे थे।

बच्चों का दिल रखने के लिए गिरीश उठकर गृहलक्ष्मी के पास खड़ा हो गया। दोनों बच्चे तालियाँ पीटने लगे।

तभी गृहलक्ष्मी खड़ी-खड़ी सहसा कठोर होने लगी। उसकी देह अकड़ने-सी लगी। उसे यह पता चलते देर नही लगी कि गिरीश के कपडों में से उस दूसरी औरत की गन्ध आ रही थी, गिरीश सिर से पैर तक उसकी गन्ध में सना घर लौटा था।

"कैसे खडी हो माँ, इस तरह से ठीक पता नहीं चलता।..."

पर माँ खडी-की-खड़ी रह गयी थी, और पिता उसी क्षण वहाँ से हट गये और अपना ब्रीफकेस उठाकर अपने कमरे में चले गये। घर मे फिर से चुप्पी छा गयी और अवसाद की छाया गहराने लगी। बच्चों की समझ मे नही आया कि बात क्या हुई है, पर वे चुप हो गये। माँ रसोईघर के अन्दर चली गयी, बिट्टू फिर से कुर्सी पर बैठ गया, और मालती प्रेत की तरह एक कमरे से दूसरे कमरे मे डोलने लगी।

खाना खा चुकने के बाद उस रात बिट्टू तो सिरहाने पर सिर रखते ही सो गया, मगर मालती की आँखें रोज की तरह अँधेरे में खुली थी और कान बगलवाले, माँ-बाप के कमरे की ओर लगे थे। देर तक उनके कमरे मे चुप्पी छायी रही, फिर धीमी-धीमी आवाजें सुनायी देने लगी। दबी-दबी आवाजें। सदा की भाँति मालती का दिल बैठने लगा। अभी माँ के सुबकने की आवाजें आने लगेंगी। कमरे मे से सदा माँ की ही आवाजें आया करती

थी, पिता बहुत कम बोलते थे। कभी-कभी माँ आहें भरती, बुदबुदाती रहती और पापा खुर्राटे भरने लगते थे। पर आज माँ बराबर बोले जा रही थी।

फिर सहसा पापा कड़ककर बोले :

"बकवास बन्द कर। जो मेरा मन आयेगा, करूँगा।"

माँ चुप हो गयी। देर तक चुप्पी छायी रही, बिस्तर में लेटी मालती का दिल धक्-धक् किये जा रहा था। अब क्या होगा ? माँ की चुप्पी के कारण अँधेरा और ज्यादा बोझिल हो गया था। सहसा माँ फिर से बोलने लगी और मालती को लगा जैसे माँ की आवाज नजदीक आने लगी है।

"जो मन में आये करो। जहाँ मन मे आये जाओ। एक बार नही बीस बार जाओ। मैं क्यों तिल-तिल कर जलूँ ? बहुत जल चुकी। जब से ब्याह हुआ, जल रही हूँ। अब नही जलूँगी। मेरे बच्चे सलामत रहें..."

बोलती हुई माँ बच्चो के कमरे मे आ गयी थी। ऐसा भी कभी-कभी होता था। जब माँ-बाप मे झगड़ा होता तो गृहलक्ष्मी बोलती हुई बच्चों के कमरे मे आ जाया करती थी।

"उधर खिसक जा बिट्टू, मैं तेरे साथ सोऊँगी।"

कच्ची नीद में सोया बिट्टू जाग गया। पहले तो उसकी समझ में कुछ नही आया, पर फिर माँ को अपने पास पड़ा पाकर वह चहक उठा और माँ के गले में अपनी बाँहें डाल दी।

●

ढोलक

मौसी ढोलक बजाने लगी। चाची कंकड़ लेकर उस पर ताल देने लगी और दसियों दन्तहीन बुढ़ियाँ मुँह खोले विवाह का गीत गाने लगी। कोई आवाज़ भटिण्डा की ओर चली तो कोई सहारनपुर की ओर, कोई पचम मे तो कोई सप्तम में। लगा बत्तखों के दल में किसी ने ढेला फेंक दिया हो और वे किकियाती हुई भागने लगी हो। बेटे की माँ सिर पर लाल रंग की चुन्नी ओढ़े उमंगों की हिलोरों में झूलती कभी इधर भागती फिर रही थी कभी उधर। आखिर उसके रामदेव ने ब्याह करना जो मंजूर कर लिया था।

स्त्रियाँ दो ही पद गा पायी होंगी कि चाची की नज़र दरवाज़े पर जा पड़ी और वह ताल देना छोड़ हँसकर बोली, "लो, फिर आ गया है। यह हमें दम नहीं लेने देगा।" फिर हाथ पसारकर दुलार की-सी आवाज़ में बोली, "जा तू कान बन्द करके बैठ. रह अपने कमरे में। तू हमारा शोर मत सुन।"

सभी औरतों की नज़र दरवाजे की तरफ घूम गयी। दहलीज पर रामदेव खड़ा था—वही जिसका ब्याह होने जा रहा था और अपने मोटे-मोटे चश्मों में से घूरे जा रहा था। लगता था अभी बरस पड़ेगा। दायें हाथ में अभी भी किताब पकड़े हुए था। तेल सने लम्बे-लम्बे बाल और नीचे छोटी-छोटी आँखें और सबसे नीचे मैला पाजामा।

"यह क्या हो रहा है चाची? सारा मोहल्ला सिर पर उठा रखा है तुम लोगों ने?"

"लो और सुनो—चाची हाथ पसारकर बोली," हम गायें भी नहीं?

हमारे घर में खुशी का दिन आया है, हम क्यों न गायें ? हम सारे मोहल्ले को सुनायेंगी, गला फाड़-फाड़कर गायेंगी। तू सुनना न चाहता हो तो अपने कमरे में जाकर बैठ रह।"

और चाची ताली बजा-बजाकर अगला पद गाने लगी :

"मुण्डा ते साडा लम्म सलम्मणा !..."

औरतें हँसने लगीं। कुछेक चाची के साथ-साथ गाने लगीं।

"लालजी को बीच में बिठाओ," एक बुढ़िया बोली, "आओ बेटा जी, हमारे पास बैठो।"

पर रामदेव का तमतमाता चेहरा देखकर रुक गयी। "अरे बेटा गुस्सा नहीं करते ! तू चाहता है ब्याह में हम हँसें-गायें भी नहीं ! तेरी तरह गुम-सुम बने रहें !"

"बस", रामदेव ने गुस्से से हकलाकर कहा, "बस, मैंने कह दिया, शोर नहीं हो यहाँ पर। अगर गाना ही है तो धीरे-धीरे गाओ।"

"हाय बेटा, कभी शोर मचाये बिना ब्याह भी हुए हैं !" पर रामदेव के कांपते, बल खाते होंठों की ओर नज़र गयी तो चाची ठिठक गयी और हाथ जोड़कर स्वांग-सा भरती हुई बोली, "अच्छा बाबा ! तेरे से तो भर पायी ! जैसे कहेगा वैसे करेंगी।"

रामदेव कुछ देर तक अपने मोटे-मोटे चश्मों में से घूरता रहा फिर घूमकर अपने कमरे की ओर जाने लगा। चलता जाता और बड़बड़ाता जाता। जब से ब्याह का पचड़ा शुरू हुआ था उसकी जान साँसत में आ गयी थी। जाहिलों के बीच पड़ गया था। न पढ़ने को वक्त मिलता था न कुछ सोचने को और तरह-तरह की अटपटी रस्में, कभी कलाई पर मौली का धागा बांधा जा रहा है तो कभी हाथों पर मेहँदी लगायी जा रही है और कभी खी-खी करती लड़कियाँ कमरे में घुस रही हैं। और चारों ओर बच्चे-ही-बच्चे—सीढ़ियों पर भी बच्चे, आंगन में भी बच्चे, इन बच्चों को इकट्ठा कर पाने के लिए ही शायद यह ब्याह रचा गया है। इस पर हर तीसरे मिनट कोई चाचा या मौसी या कोई रिश्ते का आदमी उसके कन्धे पर हाथ रखकर कहता, "रामदेव जी हँसो बेटा, खुश-खुश रहा करो। यह दिन खुशी का दिन है।"

बरामदा लाँघते हुए रामदेव की नज़र खिड़की में से नीचे आंगन की ओर गयी। हलवाइयों के चूल्हे जल रहे थे। धुएँ और मसालों की तीखी

गन्ध हवा में फैल रही थी। बडी-बडी मूँछों और बड़ी-सी तोंदवाला एक हलवाई आलू छील-छीलकर एक बडे से कडाह में डाल रहा था। आँगन के बाहर बैण्ड बाजे के साजिंदे—झब्बेदार लाल कोट और नीचे सफेद पतलूनें पहने और सिर पर काले रंग की टोपियाँ लगाये सरकस के जोकर बने घेरा बाँधे खडे थे। और उनके बीचोबीच लम्बे बालोंवाला बैण्ड मास्टर अपने को सचमुच का कण्डक्टर माने बगल में छोटी-सी छडी दबाये अपनी तमाशबीनी कर रहा था, बार-बार सिर झटककर माथे पर आये बालों को पीछे फेंकता, वे फिर माथे पर आ जाते तो फिर उन्हें झटककर पीछे फेंक देता।

एक फटीचर-सा साज़िंदा तुरही पर मुँह रखे, गाल फुलाये तरह-तरह की आवाजें उसमें से निकाल रहा था। "मेरे कानों के लिए अपना साज गरम कर रहा है," रामदेव बडबड़ाया। और साजिंदों के पीछे मुहल्ले के बीसियों बच्चे अधनंगे, मैले-कुचैले जिनका न रिश्ता न मतलब, घेरा बाँधे खड़े मुँह बाये ब्याह का तमाशा देखे जा रहे थे। जिस तरह बैण्ड की ओर देख रहे है उसी तरह मेरी ओर भी देखेंगे, रामदेव बडबड़ाया और उसकी टाँगें काँप गयी।

सड़क पर धूल उड रही थी, जैसा कस्बा वैसी सड़कें, वैसे ही लोग, कोई ढंग नहीं, कोई कायदा नहीं। इकहरे बोसीदा घरों के पीछे चिश्ती के मकबरे के बड़े-बड़े मुनारे और गुम्बद खड़े थे। इस वक्त वे भी उसे बड़े भोंडे नजर आये। जाने लोग इसमें क्या देखने दूर-दूर से चले आते है—देश से और विदेश से? इसमें रखा ही क्या है?

तभी किसी ने पीछे से उसकी कमीज़ को खींचा। रामदेव ने घूमकर देखा, उसके भाई का बेटा था। दोनों गालों में पान ठूँसे, पान की पीक चू-चूकर ठुड्डी के नीचे तक बह आयी थी।

"बिशन से कहो मुझे पान दे। वह मुझे पान नहीं देता।" लड़के ने ठुनककर कहा।

"पान खा तो रहा है। और कितने पान खायेगा?"

"बिशन ने बीस पान खाये हैं।"

"और तूने?"

"मैंने सिर्फ पाँच खाये है।" लड़के ने कहा, "बिशन से कहो मुझे पान दे।" वह फिर ठुनका।

रामदेव का जी चाहा, उसके कान मसल दे। घर-भर में इसी बच्चे के स्तर के लोग भरे पड़े थे।

बालक से पिण्ड छुड़ाकर अपने कमरे की ओर जाते हुए उसे बगल वाले कमरे में से ठहाकों की आवाज़ आयी। रामदेव झुँझला उठा। वहाँ बड़े-बूढ़ों की मजलिस जमी थी। बाबूजी अपना कोई बेमतलब-सा किस्सा सुना रहे होंगे। उधर चाचियों ने फिर से गाना शुरू कर दिया था।

वह चुपचाप चलता हुआ बैठक की दहलीज़ पर जा खड़ा हुआ। कमरा बड़े-बूढ़ों से भरा हुआ था और बीच में बाबूजी प्रधान बने बैठे थे। इतने ज्यादा ताऊ-चाचे हर हिन्दू के क्यों होते हैं ? सभी पगड़ बाँधे थे। और बाबूजी की हर बात पर खी-खी करके हँसते जा रहे थे।

"मैंने उससे कहा," बाबूजी कह रहे थे, "तू इतना रगड़-रगड़कर दातून क्यों करता है बरकतराम, रोज सुबह बाग में घूमता है और सारा वक्त दाँतों पर दातून रगड़ता रहता है ? किसलिए दाँतों को इतना तेज करता है ? दाल खाने के लिए ?" बाबूजी ने कहा और खुद ही हँसकर ताली बजाई। "ओ बरकतराम, कोई अकल की बात किया कर, मैंने उससे कहा, जो दाँतों को इतना तेज करना है तो गोश्त खाया कर। दाल खाने के लिए दाँतों को क्यों रगड़ता रहता है, यह तो अपने-आप ही गले के नीचे उतर जाती है।" बाबूजी ने फिर ताली बजाकर फिर ठहाका मारा, "ओ बरकतराम, कोई राह-रस्ते की बात किया कर। गोश्त खाने के लिए दांत तेज करो, यह बात तो समझ में आती है पर दाल खाने के लिए कौन दाँत तेज करता है ? यह तो अपने-आप ही गले के नीचे उतर जाती है।"

रामदेव खिन्न हो उठा। वह जानता था, बाबूजी अब अपने वाक्य को दोहराते जायेंगे, तालियाँ पीटेंगे, ठहाके मारेंगे और एक ही वाक्य को घसीटते जायेंगे।

बाबूजी ने फिर एक बार कहा, "ओ बरकतराम, दाल खाने के लिए भी कोई दांत तेज करता है ? यह तो अपने-आप ही गले के नीचे उतर जाती है।"

आसपास बैठे सभी बूढ़े हँसे जा रहे थे। रामदेव को सारा दृश्य ही वीभत्स लगा। बाबूजी हँस रहे थे और उनके नीचे के तीन जर्जर दाँत मले और पीले त्रिशूल की तरह ऊपर को उठे थे, उन्हें ढकने की वह कोई

कोशिश नहीं कर रहे थे बल्कि मुँह फाड़े हँसे जा रहे थे। चाचा मंगल सेन भी मूर्खों की तरह हँसे जा रहा था, दायें-बायें, सिर हिला-हिलाकर हँसे जा रहा था, वैसे ही जैसे मक्खियों से परेशान घोड़ा सिर झटकता है। पगड़वाला राजाराम भी हँसे जा रहा था। एक आँख बड़ी एक छोटी, हँस-हँसकर उसकी पीली चमड़ी में दरारें पड़ गयी थी और आँखों में से पानी बह रहा था।

वहाँ खड़े-खड़े रामदेव सिहर उठा। उसे लगा जैसे प्रेतों के जमघट में पहुँच गया है, जिनकी भयानक आकृतियाँ मुँह फाड़े हँसे जा रही है।

रामदेव उन्हीं कदमों वहाँ से लौटने को हुआ। तभी बाबूजी की नजर उस पर पड़ गयी। "आओ बेटा, आओ, कभी हम बूढ़ों के पास भी बैठा करो। हम तेरी तरह पढ़े-लिखे तो नहीं हैं, मगर कोई बात नहीं, आओ। रामदेव ठिठक गया। अनेक प्रेतों के हाथ उसे बुलाते हुए उठे।

"जी नहीं, आप बैठिए, मुझे थोड़ा काम है।" रामदेव ने हकलाकर कहा।

"आज के दिन तुम्हें क्या काम है बेटा ?"

"किताब पढ़नी है? बहुत किताबें नहीं पढा करो। हँसो-खेलो बेटा, खुश रहो।"

पर रामदेव का मन मसोस उठा और वह वहाँ से लौट गया। अपने कमरे में पहुँचा तो कमरा सिगरेटों के धुएँ से अटा पड़ा था। रामदेव का मित्र, मुरली मनोहर, बिस्तर पर लेटा सिगरेट के कश छोड़ता हुआ कोई किताब पढ़ रहा था। रामदेव ने अपने हाथ की किताब तिपाई पर पटक दी और सिगरेट सुलगाकर कुर्सी पर बैठ गया। अपने बन्द कमरे में उसे कुछ राहत मिली।

'मैं नहीं समझ सकता, ये लोग इतने खी-खी कर हँस कैसे सकते हैं?" उसने कहा।

मुरली मनोहर ने किताब छाती पर रख दी, सिगरेट का कश लिया और लेटे-लेटे छत की ओर देखता हुआ बोला :

"सारी बात संवेदन की है। इन लोगों में गहरा संवेदन नहीं है। जिसमें संवेदन है वह हँस नहीं सकता। आज के जमाने में कोई हँस नहीं सकता। हमारी पीढ़ी अभिशप्त पीढ़ी है, वह हँस नहीं सकती।"

"अजीब तमाशा चल रहा है यहाँ!" रामदेव बड़बड़ाया।

"रस्मों का न सिर न पैर, और चिल्ल-पों से आजिज़ आ गया हूँ। तीन दिन से यहाँ भड़ैत चल रहा है और मैं इसका हीरो बना हुआ हूँ।" रामदेव का चेहरा तमतमा उठा।

मुरली मनोहर उठ बैठा। थोडी देर तक अपने मित्र के चेहरे की ओर देखता रहा, फिर ढाढ़स बँधाते हुए दार्शनिकों की-सी आवाज में बोला, "सहना पड़ता है ! झेलना पडता है ! इसे झेले जाओ।"

तभी बाहर बैण्ड बाजा बज उठा और रामदेव का मुँह लटक गया। उसे लगा जैसे चारो ओर से बम फटने लगे हैं और बीच-बीच में बाबूजी के ठहाके लग रहे हैं।

शादी की गहमागहमी और बढ गयी थी। बच्चे किलकारियाँ भरते भाग-भागकर छज्जे पर जाने लगे। औरतें सजने-सँवरने के लिए अपने कमरों में भागीं। अब वे बालो में फूल खोसेंगी, मुँह और होठों पर रंग पोतेंगी, बीसियो बार शीशा देखेंगी। रामदेव की दृष्टि में औरतों से बढकर कोई ओछा जीव इस संसार में नही था, जिनमे तनिक भी गम्भीरता नहीं पायी जाती थी।

तभी उसकी बहिन मालती भागती हुई अन्दर आयी। हाँफ रही थी।

"भइया, तुम अभी तक यही बैठे हो ? तुम्हे नहाना नही है ? चार बजे सेहराबन्दी होगी। ऊपर सभी औरतें तुम्हारी राह देख रही हैं।"

रामदेव ने अपनी बहिन को सिर से पाँव तक देखा और बोला, "कितनी बार साडी बदल चुकी हो ?"

भाई के मित्र के सामने पहले तो मालती झेंप गयी, फिर मुस्कराई और फिर खिल-खिलाकर हँस पडी।

"सातवी बार। क्यो न बदलूँ, मेरे वीर की शादी जो है।"

रामदेव चुपचाप उसकी ओर देखता रहा। फिर मुरली मनोहर को सम्बोधन करके बोला, "मेरी बहिन को कितनी ही फिल्मों के डायलॉग याद हैं। किसी फिल्म का डायलॉग पूछ लो। सारा का सारा सुना देगी।"

"हटो, हम नही बोलते।" मालती ने कहा और मुडकर कमरे मे से भाग गयी।

और इसके बाद रामदेव की साँसत का कोई अन्त न था। दाँत भीच-कर वह एक के बाद दूसरी रस्म सहता रहा, झेलता रहा। चौकी पर

बैठाकर उसे नहलाया गया। सारा वक्त बूढ़ी औरतें उसके इर्द-गिर्द खड़ी तालियाँ बजा-बजाकर गाती रहीं। नहाने के बाद उसे केसरी रंग का झालरदार बाना पहनाया गया और पैरों में जरी के जूते और चूड़ीदार पाजामा और कलाइयों पर टुनटुन करती घण्टियाँ और बगल में तलवार।

सबसे लैस होकर अन्दर ही अन्दर अपने भाग्य को कोसता वह सेहराबन्दी के लिए मण्डप की ओर जा रहा था जब आँगन के बाहर खड़ी बारात की घोड़ी हिनहिनाई और रामदेव के कान खड़े हो गये। उसने आँख उठाकर देखा, आँगन के बाहर सजी-सजी घोड़ी हिनहिना रही थी। रामदेव की सहिष्णुता के बाँध टूट गये।

"मैं इस पर तो नहीं बैठूंगा।"

वह बोल उठा, "हो गया जो होना था। मैं विदूषक नहीं हूँ।"

पहले तो वह बुदबुदाया। फिर उसने पास खड़े चाचाजी से गुर्राकर कहा, "मैं घोड़ी-वोडी पर नहीं बैठूंगा।" उसकी आवाज़ में दृढ़ता थी। चाचाजी ने सुनी, फिर चार औरतों ने सुनी, फिर सभी ने सुनी, "मैं घोड़ी पर तो नहीं बैठूंगा," उसने फिर से कहा और बाने के साथ लगी घण्टियाँ बजाता ची-ची करते ज़री के जूतों के साथ आँगन पार कर एक कुर्सी पर जा बैठा।

"घोड़ी पर नहीं बैठेगा तो किस पर बैठेगा, बरखुरदार," चाचाजी ने आकर समझाया, "अगर पहले बता दिया होता तो हम किसी मोटर-वोटर का इन्तज़ाम कर लेते। अब इस छोटी-सी जगह में मोटर कहाँ से लायें।"

"मैं घोड़ी पर तो नहीं बैठूंगा। पैदल चला जाऊँगा पर घोड़ी पर नहीं बैठूंगा।"

"दूल्हे कभी पैदल भी बारात लेकर गये हैं? कोई राह-रस्ते की बात करो।"

"घोड़ी पर तो नहीं बैठूंगा, हरगिज नहीं।" उसने फिर दोटूक कह दिया।

घर में समस्या उठ खड़ी हुई। बेटा रामदेव ने सचमुच सत्याग्रह कर दिया था। जो विरोध उसके अन्दर रिस-रिसकर इकट्ठा होता रहा था, वह सहसा फट पड़ा था। बड़ी परेशानी पैदा हो गयी।

"इसे रस्मे पसन्द नही हैं, बाबूजी।" पास खड़े मुरली मनोहर ने स्थिति समझाते हुए कहा।

"रस्मों को मारो गोली, मुझे कुछ भी पसन्द नही है।"

"अगर इसे रस्में पसन्द नही हैं तो कुछ बोलता तो, यह तो मुँह-सिर ढाँपे अलग-अलग पड़ा रहा। अब आड़े वक्त आकर हमे परेशान करने लगा है।" बाबूजी ने बिगडकर कहा।

"मैं घोडी पर तो नही बैठूंगा। मैं विदूषक नहीं हूँ।"

"चाचा-ताऊ मिन्नत-समाजत करके थक गये। करें तो क्या करें। एक दानिशमन्द ने कहा, "मैंने पहले ही कहा था, बहुत रस्मे नहीं करो। पढ़े-लिखे लोगो को रस्मे पसन्द नही हैं।"

अब क्या हो ? गाँव में एक कुँवरजी के घर पुरानी फिटन रखी थी। चाचाजी ने उसके लिए आदमी भेजा। जवाब आया, फिटन तो हाजिर है मगर उसका धुरा टूटा हुआ है। स्टेशन के बाहर कभी-कभार कोई मोटर नज़र आ जाया करती थी। मगलसेनजी वहाँ लपके गये। मगर आज वह भी वहाँ पर नहीं थी। चाचाजी ने फिर रामदेव को समझाया, "देखो बेटा, लगन का वक्त निकला जा रहा है, हमारी रुसवाई नही करवाओ।" पर रामदेव टस-से-मस न हुआ।

उधर बेण्डबाजे वाले ढोल-तुरहिया पीटे जा रहे थे। और मण्डप बरातियो से भरता जा रहा था। और सजी-धजी घोडी बराबर हिनहिनाए जा रही थी और पाँव पटक रही थी।

रिश्ते के लोगों में एक वकील साहब भी थे। शहर से बरात में शामिल होने के लिए आये थे। बड़ी समझ-बूझ वाले आदमी थे।

रामदेव को बरसो से जानते थे। पढ़े-लिखे लोगों का रुख पहचानते थे। सूट पहने हुए थे और सूट के ऊपर पगडी।

जब से बखेड़ा खडा हुआ था, सारी बात सुन रहे थे। रामदेव के पिता को एक ओर ले जाकर बोले :

"मैं कोशिश कर देखता हूँ, चिन्ता की ऐसी कोई बात नही है।"

"आपके मुँह में घी-शक्कर।" बाबूजी ने कहकर कृतज्ञता से उनका हाथ पकड़ लिया, और उन्हें गले से लगा लिया।

मगर वकील साहब रामदेव के पास जाने के बजाय घर के बाहर जाते दिखायी दिये। आँगन के किनारे खड़े एक आदमी से उन्होंने पूछा भी कि

चिश्ती के मकबरे को कौन-सा रास्ता जाता है ? लोग असमंजस मे पड गये। बरात की घोड़ी और चिश्ती के मकबरे में क्या मेल ? कुछ लोगों ने सोचा, शायद वही से किसी सैलानी की मोटर माँगने गये है।

उधर रामदेव अन्दर-ही-अन्दर घुल रहा था। उसका जी चाहता, कहीं भाग जाये। विरोध करके उसने एक और परेशानी मोल ले ली थी। पर जब उसकी नजर हिनहिनाती घोड़ी पर पड़ती तो सिहर उठता। घोड़ी ऊपर-नीचे बार-बार सिर झटक रही थी, मानो रामदेव को बुला रही हो। मुरली मनोहर ने उसे समझाया, "देखो रामदेव, यह सिद्धान्त की बात नही है। सारी रस्मे करना तो तुमने मान लिया, अब इसमे क्या तुक है कि तुम घोडी पर नही बैठोगे ? इस रस्म को भी झेल जाओ, हम-तुम दूसरी दुनिया के लोग है। ब्याह के बाद ये लोग अपनी दुनिया मे, तुम-हम अपनी दुनिया में !" रामदेव चुप रहा पर मुरली मनोहर के सामने भी इसने वही वाक्य दोहरा दिया कि घोड़ी पर तो नही बैठेगा।

तभी सड़क की ओर हल्की-सी हलचल हुई। लोगों का ध्यान उस ओर खिच गया। वकील साहब के साथ दो बडी उम्र की मेमें चली आ रही थी। दोनों सड़क के किनारे बैण्ड बाजे के पास खडी थी। दोनों बड़ी उम्र की थी और दोनो बड़ी उत्सुकता से सजे-सजाये मण्डप को देखे जा रही थी। गाँववालों ने साहब और मेमे तो बहुत देखी थी, क्योंकि चिश्ती का मकबरा देखने बहुत लोग आया करते थे मगर मेमे किसी ब्याह वाले घर मे चली आयें ऐसा पहले कभी नही हुआ था। और साथ मे हमारे वकील साहब थे। अलग-अलग चीजों की ओर इशारे करके उन्हें समझा रहे थे।

तभी रामदेव के भाई का बेटा भागता हुआ उसके पास आया—वही जिसने मुँह मे पान ठूँस रखे थे, और उसका बाजू पकड़कर खीचने लगा, "चलो, तुम्हे वकील चाचा बुला रहे हैं।" और रामदेव हतबुद्धि-सा उसके पीछे-पीछे हो लिया।

"यह है हमारा दूल्हा !" वकील साहिब ने परिचय कराया। मेमे बडी उम्र की थी, बूढी थी। दोनो से पाउडर की महक आ रही थी। दोनों की उँगलियो मे छ:-छः अँगूठियाँ थी, दोनों के दाँत मसनूई थे, दोनों के बाल सफेद और चेहरे पर हजारो झुर्रियाँ और दोनो के होंठो पर लिपिस्टिक। और दोनो बार-बार सिर हिलाकर मुस्कराये जा रही थी।

"म्रों हाऊ नाइस !" एक ने कहा म्रौर सिर हिलाया म्रौर दूसरी ने हामी भरी म्रौर सिर हिलाया। म्रौर कहा, "हाऊ नाइस !"

मेमों में से एक ने बढ़कर रामदेव के बाने को हाथ से छुम्रा, "हाऊ नाइस ! हाऊ कलरफुल !" म्रौर दोनों ने फिर सिर हिलाये।

फिर एक मेम रामदेव के पास म्राकर खड़ी हो गयी म्रौर उसकी कलाइयों पर बँधी टुनटुनाती घंटियों को छू-छूकर देखने लगी, "यह क्या चीज है ?" वकील साहिब ने उसका महत्त्व बताया। दूसरी मेम की रामदेव के हाथों पर लगी मेहँदी नजर म्रायी, "यह क्या चीज है ? उसने सिर हिलाकर पूछा, "क्या यह भी बहुत पुरानी रस्म है ?"

"हजारों साल पुरानी रही होगी।" वकील साहिब ने कहा।

मेमें हिन्दुस्तानी ब्याह की रस्मों में बेहद दिलचस्पी ले रही थी। हाऊ नाइस ! हाऊ कलरफुल ! बीसियों बार कह चुकी थी। फूलों के गजरे देखे तो सिर हिलाया, चाँदी की कटोरियों में केसर देखा तो सिर हिलाया।

"क्या म्रापने सचमुच कोई हिन्दुस्तानी विवाह नहीं देखा है ?" रामदेव ने म्रपनी गहरी सरज म्रावाज में पूछा।

"नहीं, तो। हम तो वाशिंगटन से म्राये म्रभी एक सप्ताह भी नहीं हुम्रा। तुम 'योगा' जानते हो ?" एक ने पूछा।

"जी नहीं," रामदेव ने तनिक झेंप से कहा।

"म्राइए, म्रापको म्रौर चीजें भी दिखाएँ।" वकील चाचाजी ने कहा, "इन्हें मण्डप में ले चलो रामदेव।"

मेमें दूल्हे के साथ-साथ चलती हुई म्रौरतों म्रौर लड़कियों के झुरमुट की म्रोर जा पहुँची। उन्होंने म्रनेक सवाल पूछे, म्रौर रामदेव ने दुभाषिये का काम करते हुए कभी माँ से, कभी चाची से उनके उत्तर ले-लेकर बताये। मेमों ने फूलों के गजरे देखे, चाँदी की छोटी-छोटी कटोरियों में टीका लगाने का सामान देखा, चमकती जरी में लिपटा दूल्हे का सेहरा देखा म्रौर बड़े उत्साह से हिन्दुस्तानी रस्मों की प्रशंसा करती रहीं। रामदेव की जबान में भी हल्की-सी स्फूर्ति म्रायी, वह भी थोड़ा-थोड़ा चहकने लगा।

"हमने सुना है हिन्दुम्रों के ब्याह म्राग के इर्द-गिर्द होते हैं। म्राग कहाँ है ?" एक मेम ने चारों म्रोर नजर दौड़ाते हुए कहा।

"वह रस्म लड़कीवालों के घर में होती है।" रामदेव ने समझाया।

तभी एक बूढ़ी मेम की नजर सजी-सजाई हिनहिनाती घोड़ी पर पड़ गयी।

"यह किसलिए है ?" उसने पूछा।

"इस पर दूल्हा बैठता है।"

"अह, तुम घोड़ी पर बैठोगे ? ओ हाऊ नाइस ! हाऊ रोमाण्टिक !" फिर अपनी सहेली की ओर देखकर बोली, "देखा, मिसेज स्मिथ, दूल्हा घोड़ी पर बैठकर जाता है।"

मिसेज स्मिथ जो इस बीच पास खड़ी एक लड़की की छमछम करती साड़ी और माथे पर लगी बिंदियाँ निहार रही थी, चहककर बोली, "क्या सच ? हाऊ वण्डरफुल ! हाऊ एक्जोटिक ! मैंने तुमसे कहा था न, हिन्दुस्तानियों के रिवाज बड़े अनूठे होते हैं।" फिर सिर हिला-हिलाकर कहने लगी, "क्या तुम सचमुच उस पर बैठोगे ? घोड़ी पर बैठकर तुम कहाँ जाओगे ? क्या रजिस्ट्रेशन के दफ्तर जाओगे ? इस वक्त तो दफ्तर बन्द होगा !"

"नहीं, मैं घोड़ी पर बैठकर लड़कीवालों के घर जाऊँगा, मेरे सम्बन्धी-साथी मेरे साथ जायेंगे, और लड़की के घर में शादी की रस्म होगी।"

"हाऊ नाइस ! लड़कीवालों के घर आग के इर्द-गिर्द शादी की रस्म होगी ना ! तुम लोगों में ऐसा ही है ना ?"

"जी।"

"हाय, हम तुम्हारे ब्याह की रस्म देखना चाहती हैं। क्या हम तुम्हारे साथ चल सकती हैं ?"

"जी, शौक से चलिए," रामदेव ने उत्साह से कहा।

बैण्ड फिर से गूँजने लगा था, फिर सेहराबन्दी की रस्म हुई और मेमें एकटक उसे देखती रहीं। और सेहराबन्दी के बाद दोनों मेमें सिर ऊपर को उठाये दूल्हे को निहार रही थीं जब वह अपने बाने और तलवार को सँभालता हुआ कूदकर घोड़ी पर चढ़ बैठा।

जब बारात चली तो रामदेव सचमुच पग-पग पर कनखियों से मेमों की प्रतिक्रिया देख रहा था। उसे बड़े-बूढ़ों की केसरी रंग की पगड़ियाँ स्वयं सुन्दर लगने लगी थीं। उसका मन चाहा, मेमों को बताये, औरतें माथे पर बिन्दी क्यों लगाती हैं और उसने कलाई पर रंगीन धागा क्यों बाँध रखा है और बगल में तलवार क्यों लटका रखी है ?

भगोड़ा

चट्टान के ऐन सामने एक कुबड़े-से पेड के पास से ही तीखी ढलान शुरू हो जाती थी, जो दूर तक नीचे चली गयी थी। कुबड़े पेड का अंग-अंग मुडा हुआ था, और उस पर छोटे-छोटे पीले रंग के फूल उसे और भी कुरूप बना रहे थे। नीचे, पत्थरों से अटी खाई के पार घना जगल शुरू हो जाता था, जिसके बीचोबीच एक छोटी-सी झील जैसे डूब-सी गयी थी। साधना के लिए उन्होंने बहुत ही बीहड़ स्थान चुना था। लगता, समस्त प्रकृति किसी भयंकर दानव की तरह दम साधे बैठी है।

वह चट्टान पर आकर साधना की मुद्रा मे बैठ गया, और उसकी आँखें पेड के ऊपर शून्य मे देखने लगी। आकाश का रंग अभी से फीका पड़ चुका था, और उसमें, किसी वृद्धा के रूखे बालों की तरह, बादलों के रेशे उड रहे थे। धीरे-धीरे एक तैरता हुआ पराग बिन्दु उसकी आँखो के सामने हवा मे रुक गया और धीरे-धीरे वही स्थिर हो गया। कुछ देर तक, उसके इर्द-गिर्द हल्की-हल्की सफेद रेखाओ का जाल फैलता-सिकुड़ता रहा, फिर धीरे-धीरे वह भी हट गया और एकमात्र बिन्दु उसके सामने बना रहा। फिर जैसे समय की गति थम गयी, और चारो ओर मूक निस्तब्धता छा गयी। उसकी आँखें बिन्दु पर लगी थी और सारा विश्व जैसे उस बिन्दु पर झूल रहा था। इसके बाद कब आकाश मे पीला रंग आकर घुल गया और वह दहकने लगा, कब पेड़ों के साये सिमटने लगे, उसे कुछ पता न चला।

कुछ साल पहले यह बात न थी। तब बिन्दु स्थिर नही हो पाता था, देर तक तैरता रहता था, कभी तैरता हुआ ऊपर की ओर चढने लगता तो कभी नीचे की ओर लुड़कने लगता था। उसे स्थिर रख पाने के लिए उसे

-बार-बार आँखें झपकानी पड़ती थी। और बार-बार बिन्दु का रंग बदलता रहता था, कभी हरा हो जाता कभी लाल। वह क्षुब्ध हो उठता था। तरह-तरह की टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ बिन्दु के आसपास नाचने-सी लगतीं, उसे लगता जैसे साँप और नेवले और तरह-तरह के जन्तु बिलों में से निकलकर आ रहे हैं और बिन्दु पर झपट रहे हैं। मन एकाग्र नहीं हो पाता था। एक बार बिन्दु का रंग लाल पड़ गया था और वह चमकने लगा था। उसने लाल बिन्दु पर आँख जमाई तो लाल बिन्दु उसकी पत्नी के माथे के सुहाग-बिन्दु में जैसे परिणत हो गया था। बिन्दु ज्यों का त्यों बना रहा था पर उसके पीछे उसकी पत्नी का चेहरा उभर आया था और बिन्दु उसके माथे पर चमकने लगा था। पत्नी का कान्तिमय चेहरा खिला हुआ था और उसके होंठ धीमे-धीमे मुस्करा रहे थे, और उसे लगा था जैसे पत्नी कुछ बुदबुदायी है। और उसके अन्दर गहरे में कहीं, अकथनीय स्नेह-सिक्त झरनों के सोते फूट निकले थे।

तब वह असह्य वेदना से तड़प उठा था। वह जैसे साधना की सीढ़ी पर से औंधा लुढ़का था और देर तक अपने को सँभाल नहीं पाया था। वे साधना के आरम्भिक दिन थे। उस दिन आत्म-प्रतारणा में उसने तीन दिन तक निराहार रहने की शपथ ली थी, और तपते पत्थरों पर चलता हुआ बार-बार अपनी पत्नी को सम्बोधन करता रहा था, 'मेरी आँखों के सामने से हट जाओ, सदा के लिए हट जाओ, वरना मैं इस परीक्षा में टुकड़े-टुकड़े हो जाऊँगा। उसके बाद वह सचमुच आँखों से ओझल हो गयी थी और फिर लौटकर नहीं आयी थी। पर उसकी मुस्कान का पराग हवा में देर तक उड़ता रहा था, और उसके रोम-रोम को सराबोर करता रहा था। पर साथ ही साथ वह क्षुब्ध और व्याकुल उस बीहड़ घाटी में देर तक भटकता रहा था...

दोपहर होते-होते उसके दो साथी पिछली पहाड़ी पर से उतरे, दोनों सूखी लकड़ियों के गट्ठर उठाये हुए थे। उन्होंने चट्टान के तीन तरफ लकड़ियों के ढेर लगा दिये, नीचे खाई में से और खाई के पार घने जंगल में से वे लकड़ियाँ चुनकर लाये थे, और नियमानुसार तीनों ढेरों में आग लगाकर वे अपनी गुफाओं में लौट गये। तापस ज्यों-का-त्यों मूर्तिवत् चट्टान पर बैठा रहा। आग की लपटों से वातावरण धू-धू कर उठा। पर उसकी नंगी झुलसी काया में एक भी मांसपेशी नहीं हिली। लगा जैसे उसे धध-

कती आग का बोध ही न हुआ हो। उसका शरीर पहले से ही झुलसा हुआ था, सर्दी-गर्मी-वर्षा के कारण नगा शरीर किसी कटी-फटी चट्टान जैसा लग रहा था। उसकी देह पर से बहुत-सा मांस सूख चुका था, और कन्धों पर और गले के नीचे की हड्डियां उभर आयी थी। तरह-तरह के उपवास और साधना करने से मन में एक प्रकार की उत्तेजना छायी रहती थी, लगता था जैसे वह अपने को पीस रहा है, अपने शत्रु को दबोचे जा रहा है। यों, अब कोई भी प्रतिक्रिया शारीरिक नही रह गयी थी, केवल मानसिक स्तर पर, प्रकाश घूमते आग के बवण्डर, उत्तप्त व्योम, यही कुछ आंखों के सामने घूमते रहते थे।

दोपहर ढल चुकी थी जब उसे चेतना हुई। चेतना लौटने पर भी वह देर तक ज्यों-का-त्यों बैठा रहा। प्रकृति पहले की तरह ही निःस्पन्द थी। पेड़-पर्वतों के साये लम्बे होकर अपना सत्त्व खोते जा रहे थे, और लगता शीघ्र ही ओझल हो जायेंगे और समस्त प्रकृति को एक ही साया ढँक लेगा जो धीरे-धीरे गहराने लगेगा।

पर उसने पाया कि वह हांफ रहा है, उसकी सांस तेज चल रही है और सिर तनिक बोझिल हो रहा है। उसने घूमकर देखा। लकडी के ढेर जल चुके थे और बुझी काली लकडियों के नीचे अभी भी राख दहक रही थी। आज उसकी आंख समय से पहले ही खुल गयी थी। सामान्यत. वह रात का एक पहर बीत जाने पर ही आंख खोलता था, जब आकाश में तारे झिल-मिला रहे होते थे। पर आज समय से पहले ही वह समाधि से जाग रहा था।

वह उठा और क्षण-भर चट्टान पर खड़ा रहने के बाद नीचे उतर आया और ढलान उतरता हुआ जंगल की ओर जाने लगा। आज अनायास ही उसकी समाधि भंग हो गयी थी। उसे फिर से अपना सिर बोझिल लगा।

रास्ते मे दायें हाथ जहां एक चट्टान मे गहरी खोह बनी थी, उसकी नजर अपने एक साथी तापस पर पड़ी। खोह के अन्दर गजानन शीर्षासन की मुद्रा मे प्रस्तर प्रतिमा की भांति निश्चल खड़ा था। गजानन की आंखें बन्द थी, और चेहरा तपे तांबे की तरह लाल हो रहा था। क्षण-भर के लिए उसे गजानन सचमुच पत्थर का बना लगा, जैसे कही वह जड हो गया हो। उसके अपने मस्तिष्क मे. वर्षो की घोर तपस्या के बावजूद संशय के विषैले सांप कभी फन निकालकर झांकने लगते थे और वह छटपटाने लगता था

जबकि गजानन के मन मे एक बार भी कभी संशय नही उठा था ! गजानन के चेहरे पर सदा मुस्कान खिली रहती थी। शीर्षासन की मुद्रा मे भी उसके होंठों पर हल्की-सी मुस्कान थी। क्या गजानन सचमुच समग्र द्रष्टा बन चुका है, क्या वह सचमुच उसके अन्तर्चक्षु खुल गये हैं और वह कारण और कार्य को पहचानने लगा है ? गजानन किसी बात पर भी उत्तेजित नही होता था और उसके प्रत्येक संशय का उत्तर मुस्कराकर शीतल स्वभाव से दिया करता था।

वह जंगल की दिशा में आगे बढ़ गया। झील में स्नान करने के लिए वह दिन के समय कभी भी नही आया करता था। नियमानुसार पौ फटने से बहुत पहले, जब जंगल में चारो ओर गहरे अन्धकार के रहस्यपूर्ण साये डोल रहे होते, वह स्नान किया करता था। दिन के समय, जगल मे झील के किनारे की छाया शीतल थी, उसमें गहरी स्निग्धता का भास होता था, उसकी देह को सुख मिलता था, पर इसीलिए दिन के वक्त उसने झील पर जाना छोड़ दिया था। शरीर के लिए जो सुखद है, साधना की दृष्टि से वही हानिकारक हो सकता है। इसी कारण उसने रात के समय आकाश में छितरे असंख्य तारों की ओर भी देखना छोड़ दिया था। क्योंकि पहली बार देखने पर वे खिली फुलवाड़ी-से लगते थे, फिर वह उन्हे देखते सहम-सा जाता था और कुछ देर बाद व्याकुल हो उठता था। अचेतन की काली, हिलती परतों के नीचे से तरह-तरह के प्रश्न ऊपर सतह पर आने के लिए छटपटाने लगते थे, पर आ नही पाते थे। उसे लगता, सृष्टि के सभी दरवाजे उसकी आंखों के सामने बन्द हो गये हैं और अन्धकार-पुंजों के पीछे ओझल हो गये हैं।

झील के किनारे वह क्षण-भर के लिए ठिठका रहा, जब उसे झील के शान्त, निर्मल जल में अपना प्रतिबिम्ब दिखायी दिया और वह सिर से पाँव तक काँप उठा। आज बरसो के बाद वह अपना प्रतबिम्ब देख रहा था, फिर वह और झुककर उसे देखने लगा। उसे लगा जैसे प्रतिबिम्ब का आदमी कोई अजनबी है और उसे घूरे जा रहा है। वह हाँफने लगा और उसका दिल धक्-धक् करने लगा।

चेहरे पर छितरी दाढी और सिर के बालों के बीच आँखें अन्दर को धँस गयी थी और गालपि चक गये थे। छाती की हड्डियाँ उसके हाँफते साँस के साथ ऊपर-नीचे हिल रही थी। वह सिहरकर वहाँ से हट गया और

उन्हीं मन्दमों वापस लौट माया। अन्दर ही अन्दर कोई चीज फिर से ठण्डी पड़ने लगी थी। इस अस्थिपंजर को लेकर मैं कितने दिन और चल पाऊँगा ? और मैं मर गया तो ? तपस्या, साधना, मन्त्रसंघ…?

वह फिर से विचारों में खोया चट्टान पर आकर बैठ गया। चट्टान पर चुपचाप बैठा, घिरते अन्धकार में वह अकेला और नि:सहाय-सा लगने लगा। उसके साथी उसके पास नहीं आये। कभी-कभी वह इसी तरह चट्टान पर अकेला बैठा रहा करता था। वन की ओर से वन्य जन्तुओं की आवाजें आने लगी। वह अभी भी घुटनों के आसपास दोनों हाथ बाँधे चट्टान के किनारे बैठा था और ढलान की ओर मुँह किये, दूर क्षितिज की ओर देखे जा रहा था।

तभी गजानन चलता हुआ उसके पास आया।

"आज तुम्हारी एकाग्रता फिर भंग हुई है ?" उसने उपालम्भ और उपेक्षा के स्वर में कहा।

देर तक वह चुपचाप बैठा रहा, फिर धीरे से बोला, "गजानन, क्या तुम्हारा मन कभी उद्वेलित नहीं होता ?"

गजानन की आँखों में हल्की-सी चमक आयी, मानो उसे इस बात का आभास हो कि साधना में वह उससे उत्तरोत्तर आगे बढ़ता जा रहा है।

"मानसिक उत्तेजना यदि बनी रहे तो साधना कैसे होगी ? मन में संशय उठें तो साधना नहीं हो सकती।" कहकर गजानन चुप हो गया, और उसके होंठों पर मुस्कान लौट आयी। गजानन के लिए साधना के परिणाम का दायित्व उसके गुरु पर था, वह केवल कर्तव्य-रूप से साधना में रत रहता था, इसी कारण वह आश्वस्त रहता था, संशय और प्रश्न के काँटों में कभी नहीं उलझता था।

तभी उनकी आँखों के सामने एक तारा टूटा। क्षण-भर के लिए चारों ओर एक लौ-सी उठी, फिर बुझ गयी। गजानन उत्तेजित आवाज में बोला, "अन्तरिक्ष के ग्रह और उपग्रह भी किसी नियम में बँधे हैं, वैसे ही जैसे जीव जन्म-चक्र में बँधा है।"

गजानन का चेहरा अभी भी आश्वस्त लग रहा था। उसकी आवाज भी संयत थी। अपने साथी को चुपचाप बैठा देखकर वह दार्शनिकों से गम्भीर आवाज में बोला, "सारा वक्त वायुमण्डल में प्रेत डोलते रहते हैं। …मरने के बाद मनुष्य की आत्मा इसी रास्ते से यमपुरी जाती है," उसने

दक्षिण की दिशा मे हाथ उठाते हुए कहा, "शिलाखण्ड पर लेटे-लेटे मैं सारा वक्त सोचता रहता हूँ, सहस्त्रों जीवात्माएँ यमपुरी की ओर उड़ी जा रही है, पर मैं उन्हे नहीं देख पाता हूँ। पापियों और पुण्यात्माओं के प्रेत यमपुरी की दिशा में उड़े जा रहे है। आकाश इन प्रेतों से भरा रहता है, वे सारा समय उड़ते रहते है, अनेकों जीवात्माएँ लौट रही होंगी और यमराज के दूत उनका पीछा कर रहे होंगे। पर मैं उन्हें नही देख पाता हूँ। जब साधना के माध्यम से अन्तर्चक्षु खुलेंगे तो सब-कुछ देख पाऊँगा," उसने एक छात्र के-से उत्साही स्वर में कहा। पर अपने वक्तव्य या अपने साथी पर कोई असर न होता देख वह चुप हो गया।

"मैं अभी भी झुटपुटे में हूँ, गजानन, मैं कुछ नहीं जानता।"

'इसमें जानने की क्या बात है? तुममें आस्था की कमी है," उसने कहा।

उसने गजानन की आँखों में देखा। गजानन की आँखें एकटक उसके चेहरे पर लगी थी, भावशून्य, अपलक। न उन आँखों में सद्भावना थी, न घृणा। उन आँखों की चमक उसे साँप की आँखों जैसी लगी, भावशून्य, निर्लिप्त। योग साधना मे मानवीय सम्बन्धों का कोई स्थान नही होता। दूसरी ओर गजानन को अपने साथी की सारी देह मलिन-सी लगी, जैसे उस पर कीच ही कीच पुता हो, अज्ञान का कीच, अनास्था का कीच, मिथ्या भावना का कीच और गजानन अपने शुद्ध शरीर को बचाये रखने के लिए वहाँ से उठ गया।

देर तक वह गर्दन झुकाये बैठा रहा। असंख्य जगमगाते तारो के नीचे, वह क्षुद्र और नगण्य, अन्धकार के छोटे-से पुज से अधिक कुछ नहीं लग रहा था। उसे ऐसा भास हुआ कि उसके साथी, सब-के-सब इकट्ठे हो गये है और दूर ढलान के पास बैठे उसकी ओर देखे जा रहे हैं। उसकी आँखों के सामने शीर्षासन की मुद्रा मे गजानन का चेहरा उभर आया, शान्त, स्थिर, जड़वत्, निश्चेष्ट और वह सिहर उठा। कौवो की तरह काँव-काँव करते अन्य दो तापस भी उसकी आँखों के सामने आये और उसे लगा जैसे वे भी यहाँ किसी पाठशाला में भरती होकर आये हों, और साधना की अगली कक्षा में पहुँचने की तैयारी कर रहे हों। वितृष्णा और क्षोभ से उसकी नस-नस सिहर उठी।

दूसरे दिन प्रातः चारों तापस कुबड़े पेड़ के पास खड़े खाली चट्टान को देख रहे थे।

"भाग गया है!" गजानन ने कहा।

अँधेरा छन चुका था, और दिन का प्रकाश हौले-हौले फैलने लगा था। "कायर निकला! मैं पहले से जानता था कि एक दिन भाग जायेगा।" उसने उपेक्षा से कहा। फिर उसे कुछ वर्ष पहले की एक घटना याद हो आयी। व्यंग्यभरी आवाज में बोला, "तुम्हे याद है जब हमने पहली बार मिलकर उपवास किया था? और दस दिन का उपवास हमने सात दिन के बाद तोड दिया था? जानते हो क्यों? क्योंकि उसने मुझसे गिड़गिड़ाकर कहा था कि मुझसे और झेला नहीं जाता, तुम उपवास तोड दो।...उसकी आत्मा दुर्बल है, अन्दर से शिथिल है, उसमे दृढ़ता का अभाव है।" गजानन ने सिर हिलाकर कहा।

सुबह होते-होते वह पहाड़ी के नीचे जा पहुँचा था और अब एक छोटी-सी घाटी पार कर रहा था जो इस पहाड को बायी ओर ऊँचे पहाड़ से मिलाती थी। उसके दोनो कन्धे आगे की ओर झुके हुए थे, और उसके लम्बे-लम्बे हाथ, लगता था, उसके घुटनों को छू रहे हैं। सचमुच लगता था जैसे चोरो की तरह भागे जा रहा हो। उसकी पीठ झुकी हुई थी और वह बार-बार दायें-बायें देख रहा था। उत्तरीय, जो जगह-जगह से फट चुका था, उसके गले में झूल रहा था। देर तक नुकीले पत्थरो पर चलते रहने के कारण उसके पैर सीधे नही पड़ रहे थे।

"लौट आ...ओ...!!!"

सहसा पर्वतो-घाटियों में आवाज गूँज उठी। उसके पाँव ठिठक गये और उसने सिर ऊँचा उठाकर ऊपर की ओर देखा। दूर, स्वच्छ नीले आकाश के आगे, घूरती हुई-सी चट्टान के पास, चारों खड़े थे और गजानन हाथ ऊपर उठाये, बार-बार हिला रहा था।

उसका दिल भर आया। वर्षों के साथियो को छोड आया था। कमर पर रखे उसके हाथ कांप रहे थे। थोड़ी देर तक वह ऊपर की ओर देखता रहा, फिर उसने दोनों हाथ सिर के ऊपर ले जाकर जोड दिये और क्षण-भर वहाँ ठिठका रहने के बाद आगे बढ गया।

तभी एक उडता हुआ पत्थर ऐन उसके पास आकर गिरा। वह स्तब्ध रह गया और आँखें उठाकर ऊपर की ओर देखा। तभी एक और उड़ता

हुआ पत्थर आया और निकट के एक पेड से लगकर खड्ड मे जा गिरा ।

साधना के साथी पत्थर फेंक रहे थे । वह डर गया और तेज-तेज कदम बढ़ाता हुआ मैदान पार करने लगा । दो ढेले एक साथ उड़ते हुए आये, पर उससे कुछ दूरी पर ही खड्ड में जा गिरे । उसका मन फिर से क्षुब्ध हो उठा । वह निपट अकेला था । इतना अकेलापन उसने पहले कभी महसूस नही किया था । तभी पहली बार उसे अपनी निष्फलता का बोध हुआ और वह, मोड काटकर एक पत्थर पर बैठ गया और फफक-फफककर रोने लगा । इस घोर यातना का कब अन्त होगा ? कब मेरी भटकन समाप्त होगी ! पीछे से अट्टहास की गूंजती हुई आवाज उसके कान मे पड़ी । वे लोग मुझे भगोड़ा और कायर समझ रहे हैं । मैं स्वय अपने को भगोड़ा और कायर समझने लगा हूँ । पर वे मेरी व्याकुलता को क्यो नही समझ पाते ? जो विश्वास खो बैठे, उसे मार डालो, क्या यही उनका न्याय है ? वे मेरे दुःख को नही समझते, मेरी व्याकुलता को नही देख पाते ।

वह देर तक वही बैठा रहा । ढेले पड़ने बन्द हो चुके थे । अट्टहास भी बन्द हो चुका था । वे साधना में फिर से लौट गये होंगे, उसने सोचा । मैं कहाँ जाऊँ ? अब कौन-सा रास्ता मेरे सामने रह गया है ? क्या सारा जीवन भटकन में ही बीत जायेगा ? किस खोज में ? क्या मैं किसी भयानक दुःस्वप्न में जी रहा हूँ, जहाँ कुछ भी सत्य नही है ? क्या मैं लौट जाऊँ ? क्या सचमुच मैं कायर हूँ ? दुर्बल ? मैं लौट जाऊँगा तो गजानन फिर निराले मे मेरे कन्धे पर हाथ रखकर कहेगा, 'तुम तापस नहीं बन सकते ।' और वही आश्वस्त मुस्कान उसके होंठो पर खेलने लगेगी । 'जब भी तुम्हारा निश्चय डगमगाने लगता है, तुम अध्यात्म के प्रश्न पूछने लगते हो । यह आड़ है, यहाँ से भाग निकलने का पहला कदम है । अन्तर्चक्षु साधना से ही खुलते हैं, पर साधना के लिए तुममें सामर्थ्य नही है ।'

दिन निकल आया था । पेड-पर्वतों पर सिंदूरी रंग की-सी आभा छिटक आयी थी । जिस जगह वह झाडियों से घिरा बैठा था, वहाँ से कुछ ही दूर नीचे कल-कल करते एक झरने का झिलमिलाता काला जल उसे नजर आया और वह घूंट-भर पानी पीने के लिए नीचे उतर गया ।

वह जल पीकर और हाथ-मुँह धोकर लौट रहा था जब ऊपर की ओर से खटका हुआ । दूर-पार उसे लगा जैसे उसने किसी के कदमों की

आवाज सुनी है। उसे लगा जैसे किसी के कदम, सूखे पत्तों पर चलते हुए उसकी ओर आ रहे हैं। वह ठिठक गया। कौन होगा? क्या तापस है? कदम तेजी से निकट आते जा रहे थे। मगर भागते कदम नहीं थे, स्थिर गति से बढ़ते आ रहे थे। क्या वे मुझे अभी तक क्षमा नहीं कर पाये? वह एक झाड़ी के पीछे छिप गया और कातर आँखों से मैदान की ओर देखने लगा। उसका दिल धक्-धक् करने लगा। कहीं कुछ घटने जा रहा है। क्या मालूम वे लोग न हों? क्या मालूम कोई दैवी शक्ति मुझे ज्ञान का वरदान देने चली आ रही हो? अस्थिपंजर में उसकी साँस धौंकनी की तरह चलने लगी।

कदम नजदीक आ गये थे। उसने झाड़ी के पीछे से देखा—एक पुरुष और स्त्री को; पुरुष आगे-आगे चल रहा था, और स्त्री नीले रंग के वस्त्र में लिपटी उसके पीछे-पीछे चली आ रही थी। स्त्री की पीठ पर गाढ़े का मैला का झूला लटक रहा था, जिसमें एक बच्चा लेटा था, और बच्चे का नन्हा-सा हाथ झूले के बाहर लटक रहा था।

उसने चैन की साँस ली। स्त्री के नंगे, जगह-जगह से फटे पैरों, पुरुष के ऊँचे-लम्बे किन्तु थके-माँदे शरीर और मुट्ठियाँ भींचे लेटे हुए बच्चे को देखकर उसे भास हुआ कि ये साधारण जन हैं, ग्रामीण लोग, जो एक गाँव से दूसरे गाँव की ओर जाने के लिए पहाड़ों की घाटियाँ पार कर रहे है। स्त्री के पैर बड़ी कुशलता से पत्थरों पर से बच-बचकर ज़मीन पर पड़ रहे थे। दोनों चुपचाप चले जा रहे थे।

देखते ही देखते वे पेड़ों की ओट में हो गये।

उनके चले जाने पर उसे फिर से जैसे मतिभ्रम हुआ।

कई बार तापस पागल हो जाते हैं, गजानन ने एक बार कहा था, 'कड़ी धूप में साधना करते रहने के कारण उनके मस्तिष्क में धुन्ध छा जाती है। यह उन्माद है।'

क्या मैं उन्मत्त हो रहा हूँ? क्या यह सपना था? वास्तव में शायद यहाँ कोई नहीं आया?

देर तक वहाँ बैठे रहने के बाद वह उठ खड़ा हुआ और धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगा, घाटियों को लाँघने लगा। उसे मालूम नहीं था कि उसे कहाँ जाना है, अथवा वह कहाँ जाना चाहता है। निष्प्रयोजन और निरुद्देश्य वह डग भरता हुआ उसी ओर जाने लगा जिस ओर वह पुरुष और

स्त्री गये थे।

मध्याह्न के समय वह एक खुली घाटी में पहुँचा जहाँ दो टीलों के बीच एक छोटी-सी समतल जगह थी, और जिसके पार नीचे गहरी खाई थी जो छोटे-छोटे कँटीले पेड़ों से ढकी थी। दूर घाटी में धुन्ध छायी थी।

तभी उसे टीलों की ओर से किसी के कराहने की आवाज सुनायी दी। मोड़ काटने पर वह ठिठक गया। वही पुरुष और स्त्री थे जिन्हें प्रात उसने झरने के ऊपर देखा था। दो टीलों के बीच वे दोनों जमीन पर बैठे थे और उनके बीच ज़मीन पर ही उनका बच्चा लेटा हुआ था, और स्त्री कराहे जा रही थी। उसके कदमों की आहट पाकर दोनों पति-पत्नी ने सिर उठाकर उसकी ओर देखा। स्त्री झट से उठ खड़ी हुई और भागती उसके पास आ गयी। स्त्री बड़ी व्यग्र और चिन्तित लग रही थी! वह समझ गया कि उसका बच्चा या तो बीमार है या मर गया है। स्त्री का चेहरा तमतमा रहा था और होंठ सूख रहे थे। त्रस्त हिरनी-जैसी उसकी बड़ी-बड़ी आँखों को देखकर वह खड़ा का खड़ा रह गया।

"मेरे बच्चे को कुछ हो गया है। उसकी आँखें पलट रही हैं। क्या तुम कोई साधु-संन्यासी हो? क्या मेरे बेटे को ठीक कर दोगे?"

वह चुपचाप खड़ा रहा, कुछ बोल नहीं पाया। स्त्री फिर गिड़गिड़ाकर बोली, 'हम दूर, अपने गाँव से आये हैं। रास्ते में इसे कोई रोग हो गया है। इसका साँस उखड रहा है...।"

तभी वह धीमे से बोला, "मैं कुछ नहीं जानता। मैं साधु-संन्यासी नहीं हूँ।"

"तुम इसे आकर देखो तो। हम कुछ भी नहीं समझ पा रहे हैं," उसने फिर से याचना-भरी आवाज़ में कहा।

जब वह अपनी जगह से नहीं हिला तो वह तड़पकर बोली, "तो फिर कौन हो? क्या यम के दूत हो जो मेरे बेटे को लेने आये हो?" और वह बिलखकर, घबराई हुई, उन्हीं कदमों अपने बालक की ओर लौट गयी।

मानव-सुलभ सद्भावना से उसके पाँव क्षण-भर के लिए आगे बढ़ आये। पर वह सँभल गया और उसने अपने पैर पीछे खींच लिये। जब से वह परम-सत्य की खोज में निकला था उसका सांसारिक प्राणियों से कोई सम्बन्ध नहीं रहा था। उन्हीं से भागकर आया था तो उन्हीं के बीच कैसे लौट जाता? उसकी दृष्टि में अभी भी ये लोग मोह के पंक में फँसे,

इन्द्रियों के दास, अन्धकार में भटक रहे थे।

वह वहाँ से हट गया और अपनी राह पर जाने लगा। पर कुछ ही कदम गया होगा कि कुतूहलवश उसके पाँव रुक गये और वह एक चट्टान की आड़ में खड़ा हो गया और इस मानव-अभिनय को देखने लगा।

बच्चा सचमुच आखिरी साँस ले रहा था। स्त्री किंकर्तव्यविमूढ़-सी उसके आसपास मँडराये जा रही थी, कभी अपने पति के सामने जाकर चिल्लाती, कभी भागती हुई मैदान के दूसरे छोर पर इस आशा से जा खड़ी होती कि सम्भव है कोई राह जाता व्यक्ति उधर से आ निकले। वह बार-बार अपने बेटे को पुकारती, उसके चेहरे में झाँक-झाँककर देखती, बार-बार उसे उठाकर अपनी गोद में रखकर अपनी छाती के साथ सटा लेती, इस आशा से कि अपने शरीर की स्निग्धता से उसके ठण्डे पड़ते शरीर को गरमा सके। पुरुष अधिक संयत जान पड़ता था। एक बार वह उठा और चुपचाप खाई के नीचे उतर गया। थोड़ी देर बाद वह हाथों में जड़ी-बूटियाँ और ईंधन की लकड़ी बटोरकर ऊपर पहुँचा। उसने दो पत्थर जोड़कर उनके बीच सूखी लकड़ियाँ रखी और आग सुलगायी। फिर तपते पत्थर पर ही कोई जड़ी-बूटी रखकर उसे गरम करने लगा और उसके बाद बच्चे के पेट को सेंक देने लगा। इसके बाद वह फिर खाई में उतर गया, और अब की बार कोई जंगली फल तोड़ लाया, जिन्हें अपनी मुट्ठियों में भींच-भींचकर उसका रस बच्चे के मुँह में डालने लगा।

पर देखते-ही-देखते बच्चे की भिंची हुई मुट्ठियाँ हवा में उठकर झटके के साथ काँपने लगीं, और माँ बिलख उठी।

सहसा माँ के व्यवहार में एक विचित्र-सा परिवर्तन दिखायी दिया। माँ ने बच्चे को धीरे-से ज़मीन पर लिटा दिया और स्वयं उठ खड़ी हुई, अपने पति का भी हाथ पकड़कर उसे उठा लिया, और दोनों उठकर दिशाओं को झुक-झुककर नमस्कार करने लगे। किसी विशेष अनुष्ठान के अनुरूप वे सूर्य को नमस्कार कर ऊँचे स्वर में कोई मन्त्र पढ़ने लगे। चट्टान के पीछे खड़ा व्यक्ति समझ गया कि देवों से बच्चे के भविष्य के लिए प्रार्थना कर रहे हैं। लगा जैसे स्त्री कभी भी चिन्तातुर होकर कराही नहीं थी, उस समय लग रहा था जैसे दोनों किसी उत्सव में भाग ले रहे हैं, और देवों की तुष्टि के लिए उन्हें बार-बार नतमस्तक नमस्कार कर रहे हैं। माँ सहसा शान्त हो गयी थी। अब वह बच्चे की अकड़ती मुट्ठियों

को देखते हुए भी तन्मयता से मन्त्र बोले जा रही थी। बच्चे की देह जैसे बिखरती जा रही थी, शिथिल और लम्बी पड़ती जा रही थी और सिर एक ओर को टेढ़ा पड़ता जा रहा था।

उस समय उसका पति अधिक व्याकुल जान पड़ता था। लगता था अन्तिम क्षण तक वह बच्चे को बचाने का प्रयास करेगा। उसने भी दोनों हाथ जोड़ रखे थे, पर वह बराबर दायें-बायें देखने लगता, कभी टटोल-टटोलकर बच्चे का शरीर देखता। एक बार तो वह उठकर फिर से जड़ी-बूटियों को देखने-परखने लगा था। पत्नी के आश्वासन के बावजूद वह सारा वक्त कुछ-न-कुछ बटोरता रहा था। उसके हाथ अभी भी हिल रहे थे और गोद मे जुड़कर पड़े रहना नही चाहते थे। पर पत्नी शान्त, स्थिर, एकाग्र—मानो वह बच्चे के अस्तित्व तक को भूल चुकी हो—हाथ जोडे मन्त्रोच्चारण कर रही थी।

आखिर बच्चे की देह एक नन्हे-से झटके के साथ निःस्पन्द हो गयी। माँ ने भी देखा, बाप ने भी देखा। उसके दम तोड़ने के साथ-ही-साथ दोनो का मन्त्रोच्चारण भी समाप्त हो गया।

फिर माँ के कण्ठ में से ऐसी चीख निकली कि पहाड भी काँप उठे। स्त्री ने बच्चे की लाश को उठाकर छाती से चिपका लिया और चीख-चीखकर रोने लगी। चारों दिशाएँ उस स्त्री के क्रन्दन से गूँजने लगी। मनुष्य कितना दुखी हो सकता है, इसका दृश्य वह पहली बार आँखों के सामने देख रहा था। स्त्री मिट्टी में, बच्चे के शव को लिये लोट रही थी। लगता था इस क्रन्दन से स्त्री का शरीर टूट जायेगा, अंग-अंग अलग हो जायेगा। जैसे उसके अन्दर कोई बाँध टूट गया था, जिन्दगी को जोडकर रखने वाली सभी कडियाँ टूट गयी थीं। चट्टान के पीछे खड़ा वह निर्लिप्त दर्शक भी अपने आँसू नही रोक सका। स्त्री की चीखों को सुनकर उसकी टाँगें भी काँप-काँप गयीं। बेटे की देह को छाती से लगाये वह दायें-बायें झूल रही थी, और वन्य पशुओं की भाँति चीखे जा रही थी। उसके निकट उसका पति घुटनों पर सिर रखे, बिलख-बिलखकर रो रहा था। उसके कन्धे बार-बार काँप उठते।

देर तक दोनों रोते रहे, और देर तक ही चट्टान के पीछे उसकी काँच की-सी आँखें उन दोनो पर लगी रही।

दिन ढल रहा था जब पिता ने बच्चे की लाश को माँ की छाती पर

मे जैसे नोचकर हटाया। फिर उसे जमीन पर रखकर उसे अपने वस्त्र मे सिर से पांव तक ढँक दिया। माँ अब भी बैठी रोती रही। पुरुष उठा और सम्भवतः लकडियाँ बटोर लाने के लिए फिर से खाई में उतर गया।

थोडी देर में चिता जल उठी और आग की लपटें उठने लगी। वह अभी भी चट्टान के पीछे एकटक यह दृश्य देखे जा रहा था। मृतक को अग्नि देने मे अनभिज्ञ, पति-पत्नी अपने ही किसी संस्कारवश आग मे लकड़ियाँ और बूटियाँ डाले जा रहे थे, मानो उसकी एक-एक क्रिया को देवता देख रहे हो और बालक का भावी सुख इसी पर निर्भर करता हो। टूटे-फूटे जो भी मन्त्र वे जानते थे, बडी तन्मयता से बोले जा रहे थे, बच्चे के सुख के लिए भगवान् से याचना किये जा रहे थे।

आखिर धू-धू करती चिता की आग भी मन्द पड़ने लगी, और शाम के साये लम्बे होने लगे। चट्टान के पीछे किसी जन्तु की आँखों की भाँति उसकी आँखें यह सामान्य मानव-व्यापार देखे जा रही थी।

रात गहराने लगी। दिन की तपिश धीरे-धीरे अपनी उग्रता खोने लगी। प्रकृति का सान्त्वनापूर्ण हाथ, अपनी शीतल मन्द समीर से उनका माथा सहलाने लगा। चट्टान के पीछे खडे व्यक्ति का मन हुआ कि आड में से निकलकर उनके पास जा बैठे। पर फिर भी वह ज्यों-का-त्यों खडा रहा।

क्लान्त और शिथिल, दोनों पति-पत्नी बुझी चिता से दूर हटकर बैठे थे। सारे वायुमण्डल में गहरा अवसाद छा गया था। शिथिल और अवसन्न, पति-पत्नी देर तक वही बैठे रहे। स्त्री कभी बुझी चिता की ओर देखती, कभी उसकी आँखें दूर क्षितिज को ताकने लगती, कभी वह बिलख-कर रो पडती। पुरुष अधिक संयत था, परन्तु किसी-किसी वक्त वह भी कटे हुए वृक्ष की भाँति बेसहारा होकर गिर-सा पड़ता था। जब वह रोता तो पत्नी उसको ढाढस बँधाती, उसकी छाती के साथ अपना सिर सटा लेती, जब स्त्री रो-रोकर बेचैन हो जाती तो पुरुष उसे ढाढस देता, उसकी पीठ सहलाता, उसके सिर पर अपने होंठ रख देता। स्त्री की व्याकुल, त्राण ढूँढ़ती, अवलम्ब माँगती बाँहें पुरुष की ओर उठी, मानो जीवन में वही उसका अवलम्ब बन सकता हो। असह्य व्याकुलता मे छट-पटाते दोनों एक-दूसरे की बाँहों मे बँधते जा रहे थे। स्त्री को लग रहा था जैसे उसकी क्षतिपूर्ति पुरुष की बाँहों में ही हो सकती है, और पुरुष को

लग रहा था जैसे स्त्री ही उसका अवलम्ब बन सकती है। अपनी व्याकुलता को शान्त करने के लिए, ढाढस और सान्त्वना की खोज मे प्रकृति के किसी अपरिहार्य नियम के अनुसार, पुरुष और स्त्री एक-दूसरे की छटपटाती, उद्विग्न बाँहों मे लिपट रहे थे। स्त्री की कटी लता-जैसी निरालम्ब देह, आश्रय की भूखी, पुरुष की बाँहों में सिमट गयी। चट्टान के पीछे कांच की आँखें यह मार्मिक दृश्य देखे जा रही थी।

दूसरे दिन प्रातः जब दम्पति अपने बच्चे के अस्थि-अवशेष अपने ही एक वस्त्र मे बांधे पहाडी पर से उतर, नगर की ओर जाने लगे तो वह भी चट्टान के पीछे से निकल आया और उनके पीछे-पीछे नगर की ओर जाने लगा—उस दिशा मे, जहाँ नर-नारी मोक्ष-प्राप्ति के लिए नही, मात्र जीने के लिए, एक-दूसरे मे अपना अवलम्ब खोजने के लिए जीते हैं। उसे लगा जैसे मनुष्य का सत्य मनुष्य के हृदय मे ही मिलेगा, उसके बाहर नही मिल सकता।

●●●